रुद्रभट्ट विरचित श्रृङ्गारतिलक

का

आलोचनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद युनिवर्सिटी की डी0फिल0 उपाधि हेतु

प्रस्तुत

शोध–प्रबन्ध

प्रस्तोता

दिनेश कुमार शुक्ल

वरिष्ठ अनुसन्धान अध्येता

निर्देशक

प्रो0 (डा0) सुरेश चन्द्र पाण्डेय
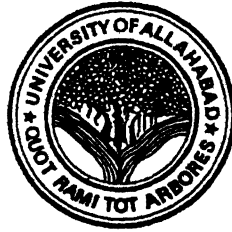
संस्कृत विभाग

इलाहाबाद युनिवर्सिटी

इलाहाबाद (उ0प्र0)

भारत

2002

समर्पित

परमादरणीय, प्रातस्मरणीय पूज्य

"श्री गुरुदेव" के

चरण–कमलों में

एवं

मेरी लाडली बिटिया

"एनी"

की प्यारी सी मुस्कान पर

निश्चित अथवा गुणो का विपर्यय मात्र, वामन, रुद्रट, मम्मट और विश्वनाथ, पद दोष, पदाश दोष, वाक्य दोष, अर्थ–दोष, रस–दोष, अलङ्कार दोष, रुद्रभट्ट का काव्य दोष – विरस, प्रत्यनीक, दु संधान रस, नीरस, पात्रदुष्ट।

तृतीय अध्याय – सम्भोग और विप्रलम्भ

श्रृङ्गार की प्रधानता – श्रृङ्गारो नायको रसः, भरतादि विद्वानो का विमर्श, श्रृङ्गार की व्युत्पत्ति – भरत का मत, अभिनव गुप्त के मत मे, श्रृङ्गार के भेद प्रभेद, रुद्रभट्टकृत श्रृङ्गारविभाजन एवं अन्य विद्वानो का तुलनात्मक विश्लेषण, दशरुपककार का श्रृङ्गारविभाजन, मम्मटकृत विभाजन, विश्वनाथ का श्रृङ्गारविभाजन, करुण विप्रलम्भ–मत–मतान्तर, रुद्रभट्ट के प्रभेद प्रकाश, सभोग, प्रच्छन्न संभोग, प्रकाश विप्रलम्भ, प्रच्छन्न विप्रलम्भ, विप्रलम्भ–विवेचन–पूर्वानुराग, मान, प्रवास, करुणात्मक मम्मट मत, नायक नायिका की अप्राप्ति की दशा में दश अवस्थाये, विभिन्न विद्वानों का विमर्श, तीन प्रकार के मान – गरीयान्, मध्यम व लघु, नायिका को प्रसन्न करने के छ उपाय, साम, दाम, भेद, प्रणति, उपेक्षा और प्रसङ्गविभ्रंश, प्रवास–विभिन्न विद्वानो के मत में, नर्मसचिव – पीठमर्द, विट, विदूषक, तुलनात्मक विश्लेषण, नायिकाओं के सरवीजन, तीन प्रकार के दूत–दूतियाँ, निसृष्टार्थ, मितार्थ, सन्देशहारक।

चतुर्थ अध्याय – नायक–नायिका भेद

भरत का मत, नायक के सामान्य गुण, भरत, धनञ्जय, रुद्रट, रुद्रभट्ट, नायक भेद–विभिन्न विद्वानों का विमर्श, अनुकूल, दक्षिण, शठ, धृष्ट, नायक के प्रबन्धगत भेद, धीरललित, धीरशान्त, धीरोदात्त, धीरोद्धत, नायिका के भेद– रुद्रट की नायिकायें 58, 384 नहीं, रुद्रभट्ट का नायिका भेद, प्रथमतः तीन प्रकार की नायिकाये– स्वकीया, परकीया और सामान्या, स्वकीया के पुनः मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा तीन भेद, मुग्धा का लक्षण – नवयौवनविभूषिता, नवानङ्गरहस्या, लज्जाप्रायरति, मुग्धा का सुरत स्वभाव, मुग्धा को मनाने का ढङ्ग, मान का ढङ्ग मध्या नायिका के चार लक्षण– आरुढ़यौवना,

प्रादुर्भूत मनोभवा, किञ्चित् प्रगल्भवचना, विचित्रसुरता, मध्या का सुरत–स्वभाव, मध्या के तीन भेद– धीरा, मध्या, अधीरा, प्रगल्भा के चार लक्षण– लब्धायति, समस्तरतिकोविदा, आक्रान्त नायका, विराजद्विभ्रमा, धीरा का प्रगल्भा का लक्षण, रोष, मध्या व अधीरा प्रगल्भा, स्वीया का लक्षण, दो प्रकार की अन्यदीया– कन्या व ऊढा, लक्षण भङ्गीभणिति, मुग्धा की चेष्टायें, वेश्या का लक्षण, वेश्या की प्रशसा, नायिकाओ का अष्टधा–विभाजन, तीन प्रकार की अभिसारिकायें, नायिकाओ के 384 भेद, परस्त्रीगमन, उत्तमा, मध्यमा व अधमा के भेद से पुन· त्रिधा–विभाजन।

वृत्ति– विभिन्न विद्वानों के मत में, रुद्रट और रुद्रभट्ट की वृत्तियों में भेद, शब्दवृत्तियां और अर्थवृत्तियां, दशरुपककार का मत, रुद्रट की पांच वृत्तियां– मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा, रीति क्या है? रीति और वृत्ति– तुलनात्मक विश्लेषण, वृत्तियां रसावस्थान सूचिका–रुद्रभट्ट, कैशिकी, व्युत्पत्ति, रुद्रभट्ट का लक्षण, नाट्यशास्त्र का लक्षण, साहित्यदर्पण के मत में, विभाजन–नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट, नर्मगर्भ, दशरुपककार के मत मे नर्म विभाजन, कैशिकी का प्रयोग, आरभटी– व्युत्पत्ति, नाट्यशास्त्र के अनुसार, रुद्रभट्ट के मतानुसार, दशरुपककार के मत मे, साहित्यदर्पण के मत में, आरभटीका प्रयोग, सात्वती– व्युत्पत्ति, भरत मत, रुद्रभट्ट का लक्षण अर्थ, दशरुपककार के मत मे सात्वती के अङ्ग सलापक, उत्थापक, साङ्घात्य, परिवर्त्तक, विश्वनाथ के मत में, सात्वती का प्रयोग, भारती वृत्ति– व्युत्पत्ति, किन रसो में प्रयोग? भरत का मत, रुद्रभट्ट का मत भेद, लक्षण, उदाहरण, दशरुपककार का मत, विश्वनाथ का लक्षण।

आत्म–निवेदन

'गुरु' का अर्थ बडा व्यापक होता है। 'गु' अर्थात् अन्धकार 'रु' अर्थात् प्रकाश, जो अन्धकार से प्रकाश की ओर, तमस से ज्योति की ओर ले जायें वह 'गुरु' है, अज्ञान के अन्धेरो मे भटकते व्यक्तियो को जो ज्ञान की किरण दिखायें, वह 'गुरु' है, जो अज्ञान के निविड तम मे स्वय ज्यतिपुञ्जमय हो, वह 'गुरु' है। एम0ए0 पूर्वार्द्ध मे ही मैने गुरु चुन लिया था। वे हमे पाली पढाते थे। उनके व्यक्तित्व की आभा, उनका स्नेहिल व उदार स्वरूप, चेहरे का दिव्य तेज, प्रशान्त–महासागर सी गम्भीरता, ये सब कुछ मुझे मंत्र–मुग्ध कर देते थे। आदमी अपने आने वाले समय के लिये, लगभग इसी समय, एक आदर्श कल्पित करता है, वे वैसे ही थे। प्रारभ में तो, उनसे बात करने की हिम्मत भी नही होती थी। यही स्थिति रिसर्च ज्वाइन करने के काफी बाद तक रही। उनके निर्देशन में शोध करने की कल्पना जरुर मन में थी लेकिन उनसे निवेदन करने का साहस ही नही होता था। एक दिन घर जाकर, डरते–डरते पूरी बात एक सांस मे कह दी। डर था, मुझे पहचानेंगे भी या नही। बोले– "हा–हा, तुम दौडने आया करते थे मजार चौराहे तक।" मुझे याद है– उन दिनो मै तेलियरगंज मे रहता था और प्रातः उठकर दौडता था। मजार चौराहे पर चलते–चलते ही गुरुदेव के चरण–स्पर्श करता था। ये लगभग रोज का क्रम था। चौराहे पर, जब तक गुरुदेव न दिख जाते, व्यायाम करता रहता था। वो दौडना काम आया। मैने तमाम झूठे सच्चे वादे किये (झूठे इसलिये क्योकि उनमें से कुछ को मै निभा नही सका।) और गुरुजी के यह कहने पर कि, "मेरे पास सीट रिक्त नही है" मैने रिसर्च करने का इरादा त्याग दिया और इसके लिये आवेदन करने से भी इन्कार कर दिया। पुनश्च, गुरुदेव के यह कहने पर कि– "तुम फार्म भर दो, अगले साल मैं रिटायर्ड हो जाऊँगा, तब मेरे पास सीट रहेगी" मैने आशा की एक किरण देखी और रिसर्च के लिये आवेदन कर दिया। मेरे प्रिय अग्रज जगदीश त्रिपाठी (सप्रति– जिला पंचायत राज अधिकारी, आजमगढ) व डा0 हरिराम मिश्र, (सम्प्रति जवाहर लाल नेहरू युनिवर्सिटी दिल्ली मे एशोसियेट प्रोफेसर, संस्कृत) की मुझे प्रेरित करने में सराहनीय व सम्माननीय भूमिका रही।

'रिसर्च डिग्री कमेटी' के समक्ष मैने स्वय गुरुदेव के कहने पर भी किसी अन्य विकल्प पर विचार से इन्कार कर दिया। निराश होकर चित्रकूट (अपने घर) लौट आया था कि एक दिन अचानक मेरे एक सहपाठी अरविन्द नारायण मिश्र ने मुझे सुबह–सुबह नीद से जगाकर सूचना दी कि 'गुरुजी ने तुम्हें अपने अधीन शोध की अनुमति दे दी है'। मेरे लिये यह सपना जैसा ही था।

उस दिन से मेरे जीवन मे प्रगति का एक नया अध्याय शुरू होता है। मैने यू0जी0सी0 की कनिष्ठ शोध अध्येतावृत्ति परीक्षा पास की, वरिष्ठ अनुसन्धान अध्येता बना और अब राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय मे सस्कृत प्रवक्ता। एक तिनके को आसमान मे उडने की जिसने शक्ति दी, वे परमादरणीय गुरुदेव हैं। मै आज जो भी कुछ हूँ, सब सिर्फ उनकी कृपा और आशीर्वाद से ही हूँ। मेरे जीवन मे पिता का जो आदर्श था, पिता से जो आकांक्षाये थी, या वह सब–कुछ जो पिता से मिलना चाहिये था और वें अपने स्वभाव, या कहे कि प्रवृत्तिवश दे नही पाये, वह मुझे गुरुजी से मिला। वे मेरी प्रेरणा हैं, मेरा रोम–रोम उनको शत–शत नमन करता है। उनके लिये जो मेरी भावनाये हैं, शब्द उन्हे अभिव्यक्ति नही दे सकते।

शोध–कार्य में बहुत लम्बा समय लग गया। इसके लिये कुछ तो मेरी उदासीनता जिम्मेदार थी, कुछ कैरियर बनाने की मजबूरी, किन्तु सबसे ज्यादा जो बात जिम्मेदार थी वह थी– अपनो का असहयोग। इस सबध में मुझे परमस्नेहिल मामाजी, श्री वीरेन्द्र करवरिया, बांदा, की वह पङ्क्ति याद आती है– "अपनो ने हराना ठान लिया, तब जीत की कोशिश छूट गयी।" खैर, ये दुखडा कभी और सही। इस समय तो इतना ही कहूँगा कि मेरे मित्रो ने जिनमें श्री जगदीश त्रिपाठी, पंकज गोस्वामी, श्री विनोद शाही, श्री दिनेश ओझा (सम्प्रति– व्याख्याता इतिहास– राजकीय महाविद्यालय झालावाड) इत्यादि है, अग्रज– श्री हरीराम मिश्र, श्री परमानन्द मिश्र तथा अनुज संजय मिश्र व सन्दीप मिश्र व समग्र परिवार, इन सब ने मिलकर जो मेरे लिये किया, उसके बिना यह कार्य कदापि संभव नही था। विशेषकर संजय व सदीप के लिये इतना कहूँगा कि, ऐसे अनुज मुझे हर जनम में मिलें, तिस पर संजय की

पत्नी विभा ने जो अनुजवधू का पद–निर्वाह किया, उस का कोई प्रतिदान संभव नही है।

अन्त में, मै अपनी जीवन–सगिनी प्रतिमा का हृदय से आभारी हूँ, जिसके प्यार व जिसकी निर्दोषिता ने मुझे जीने का सम्बल प्रदान किया। जिसके स्नेह व सहयोग के बिना मेरी क्षमताये जड हो कर रह जाती। अपने प्रथम परिणय प्रसून अपनी लाडली बेटी 'एनी' की मासूम अदाओं का भला मै क्या प्रतिदान दे सकूँगा, जिसकी तोतली बातों ने मुझमे जीवन के प्रति, प्रकृति के प्रति, ईश्वर के प्रति और सबसे अन्त में अस्तित्व के प्रति मेरे हृदय मे रस जगाये रखा। ईश्वर से यही प्रार्थना है कि वह उसकी मासूमियत जीवन भर बनाये रखे और उसे हर वह खुशी दे, जिसकी उसे आकाङ्क्षा हो।

अन्त मे, इतना ही निवेदन करना चाहूँगा कि जब तक सुधीजन मेरे इस कार्य से सन्तुष्ट न हो जाये मैं अपने कार्य को सफल नहीं समझूँगा जैसा कि कालीदास ने कहा है – "आ परितोषाद् विदुषा, न साधु मन्ये प्रयोग विज्ञानम्"। मैने यह कठिन–कार्य आदरणीय गुरुदेव की प्रेरणा से किया हैं– फिर भी यदि किञ्चित् त्रुटि रह गयी हो तो सभी विज्ञ सुधीजन, इसे बालसुलभ प्रयास मान कर मुझे क्षमा करेंगे। गुणवान से ही याचना की जाती है– महाकवि कालीदास के शब्दो में– "याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा"। अन्त मे, अनुज कृष्ण कुमार द्विवेदी को धन्यवाद देना चाहूँगा, जिन्होंने स्वयं दिन रात एक करके कम्प्यूटर पर काम किया।

धन्यवाद

D.K. Shukla
7-01-02

दिनेश कुमार शुक्ल
वरिष्ठ अनुसन्धान अध्येता
सस्कृत विभाग
इलाहाबाद युनिवर्सिटी
इलाहाबाद

विषय–प्रवेश

श्रृङ्गारतिलक काव्यमाला सीरीज मे प्रकाशित हुई है। इसका एक अन्य संस्करण पिशेल द्वारा सम्पादित है। इस ग्रन्थ मे तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद मे रसो का भेद बताते हुये केवल संभोग श्रृङ्गार का विस्तृत निरूपण है। प्रसंङ्गतः प्रथम परिच्छेद में ही भावो का तथा नायक–नायिका का विस्तृत निरूपण है। द्वितीय परिच्छेद में विप्रलम्भ श्रृङ्गार का विस्तृत निरूपण है साथ ही साथ काम की दश अवस्थाओं, प्रेयसी को मनाने के छ उपायों तथा नायिका की सखियो का वर्णन है। तृतीय परिच्छेद मे अवशिष्ट आठ रसो का संक्षेप मे सोदाहरण निरूपण है। इसी परिच्छेद मे चार वृत्तियों क्रमश· कैशिकी सात्वती आरभटी व भारती का भी निरूपण है।

चूँकि इसकी विषयवस्तु रुद्रट के काव्यालङ्कार के 12–13–14वे अध्यायों से बहुत हद तक समानता रखती है अत· नामो मे साम्य के कारण कुछ विद्वानो विशेषकर जर्मन विद्वानो पिशेल, वेबर, आफ्रेख्ट व ब्यूहलर इत्यादि ने इसे भी रुद्रट की रचना ही मान लिया। कुछ का तो मत था कि रुद्रट ने काव्यालङ्कार लिखने के उपरान्त श्रृङ्गारतिलक के रूप में उस रस–प्रकरण का विस्तार किया जिसका वे अपने अन्तिम अध्यायो (क्रमशः 12–13–14 व 15 मे) किन्ही कारणोवश समुचित निर्वचन नहीं कर पाये थे, लेकिन तर्क की कसौटी पर यह बात खरी नही उतरती। बाद मे इसकी विज्ञजनों ने खोज की। सर्वप्रथम पीटर्सन ने इस तादात्म्य को नकारा। बाद में दुर्गा प्रसाद, जैकोबी, डा० हरिचन्द्र, डा० सुशील कुमार डे तथा पी०वी० काणे प्रभृति विद्वानों ने भी इसी तथ्य को स्थिर किया कि ये भिन्न व्यक्ति थे। फिर भी, ये कौन थे? किस काल में थे? इत्यादि बाते अनकहीं ही रह गयीं। इसके प्रथम सम्पादक पिशेल ही इन्हें पहचानने मे गलती कर रहे है। बाद में सुभाषितो ने इस भ्रम को इतना बढाया कि कहीं रुद्रट के पद्य को रुद्र के नाम से, कही रुद्र के पद्य को रुद्रट के नाम से उल्लिखित किया। हेमचन्द्र (1089–1172 ई0) ने सर्वप्रथम इनके उद्धरण दिये है।

किन्तु नामो में भ्रम की स्थिति इतनी अधिक थी कि हेमचन्द्र ने स्वय इनका नाम नही लिया। अतः कोई आश्चर्य नही कि वे हेमचन्द्र से 200 वर्ष पूर्व हुये हो। पी0वी0 काणे व डा0 एस0के0 डे का भी यही मत है कि ये रुद्रट और हेमचन्द्र के मध्य के है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध मे इनकी सम्यक पहचान का यथामति प्रमाण सहित प्रयत्न किया गया है तथा इस ग्रन्थ शृङ्गारतिलक की प्रतिपत्तियो यथा रस विवेचन, सम्भोग और विप्रलम्भ, नायक–नायिका भेद, नायक के सहायक (नर्म सचिव) नायिका की सहायिकाये (दूती), 384 प्रकार की नायिकायें तथा वृत्तियो का विवेचन इत्यादि की भली–भांति आलोचनात्मक समीक्षा की गयी है।

रुद्रभट्ट विरचित शृङ्गार तिलक का

आलोचनात्मक अध्ययन

शोध प्रबन्ध

प्रथम अध्याय

रचयिता और रचनाकाल

रुद्रभट्ट– शृङ्गारतिलक – रचयिता और रचनाकाल

रुद्रभट्टकी कृति "शृङ्गारतिलक" सस्कृत–काव्यशास्त्र की परम्परा मे न केवल रस–विवेचन के लिए, अपितु अपनी रसपेशलता के लिए भी एक समृद्ध कृति है । किन्तु इस कृति का दुर्भाग्य यह है कि अनाथ–पिण्ड की भांति इस के रचयिता का आज तक निश्चित रुप से निर्धारण ही नही हो पाया । जब रचयिता का ही सम्यक निर्धारण न हो सके तो रचनाकाल का निर्धारण भला कैसे सम्भव है ? अस्तु, हम सर्वप्रथम इसके रचयिता के सम्बन्ध में विवेचन करेगे ।

शृङ्गारतिलक "काव्यमाला–सीरिज" मे प्रकाशित हुआ है । इसका एक अन्य सस्करण डॉ0 पिशेल द्वारा सम्पादित है । इस ग्रन्थ मे तीन परिच्छेद है । प्रथम परिच्छेद में रस, भाव तथा नायक–नायिकाओं का निरुपण है । द्वितीय परिच्छेद में विप्रलम्भ शृङ्गार, नायक–नायिका की अप्राप्ति मे दश अवस्थाएँ, मान काढग, प्रकार, मानिनी नायिका को प्रसन्न करने के छः उपाय तथा नायिकाओ के सखीजन का वर्णन है । तृतीय परिच्छेद में अन्य रसों तथा 4 वृत्तियो – कैशिकी, आरभटी, सात्वती, भारती – का निरुपण है। ग्रन्थ के अन्त में–

शृङ्गारतिलको नाम ग्रन्थोऽयं रचितो मया ।
व्युत्पत्तये निषेवन्ते कवयः कामिनश्च यम् ।।
कान्या काव्यकथा कीदृग्वैदग्धी को रसागमः ।
किं गोष्ठीमण्डनं हन्त शृङ्गारतिलकं बिना
त्रिपुरवधादेव गतामुल्लासमुमां समस्तविबुधनुताम्।
शृङ्गारतिलकविधिना पुनरपि रुद्रः प्रसादयति ।।

इस कारिका के द्वारा ग्रन्थकार ने न केवल अपने नाम "रुद्र" की ओर स्पष्ट सेंत किया है, अपितु ग्रन्थ के नाम "शृङ्गारतिलक" का भी निर्देश कर दिया है । इससे यह तो स्पष्ट हुआ कि ग्रन्थकार का नाम रुद्र है, लेकिन साहित्य–परम्परा में अनेक रुद्र नामधारी आचार्यों की उपस्थिति से भ्रम का वातावरण बना रहा । इसके अतिरिक्त कुछ हस्तलिखित प्रतियो मे अन्तिम श्लोक नही है अतएव सन्देह होना स्वाभाविक है । ग्रन्थ की पुष्पिका मे प्रत्येक अध्याय के अन्त मे "इति श्री मद्रुद्रभट्टविरचिते शृङ्गारतिलकाख्ये काव्यालङ्कारे.. ..... ." इत्यादि अंकित है । शृङ्गार तिलक की हस्तलिखित प्रतियों मे कही कहीं रुद्रट नाम भी मिलता है (इण्डिया आफिस कैटलाग, पृ0 321 संख्या 1/31 तथा मद्रास गवर्नमेण्ट हस्तलिखित ग्रन्थ–संग्रह 1918 पृ0 8697 सख्या–12955) ।

अधिकांश विद्वान् इन्हे रुद्रट से अभिन्न मानने के पक्ष में है जबकि बहुमत इन्हें उन (रुद्रट) से भिन्न रुद्रभट्ट स्वीकार करता है है। साहित्येतिहास परम्परा मे पांच रुद्रभट्ट मिलते हैं जो निम्न हैं–

1) "शृङ्गारतिलक" के रचयिता "रुद्रभट्ट" । ("रुद्रभट्ट" "शृङ्गारतिलक" अंलकारशास्त्र के रचयिता)

2) "रुद्रभट्ट" (1) जगन्नाथ विजय काव्य (कन्नड) के रचयिता (2) रुद्र भाष्य के प्रणेता । पद्यावली मे इनका उल्लेख है । (इनके नाम से "रसकलिका" नामक एक और कृति मिलती है "प्रतापरुद्रीय" के रचयिता विद्यानाथ ने इन्हें ही शृङ्गारतिलक के रचयिता रुद्रभट्ट मानकर अपने ग्रन्थ में "तथा चोक्तं शृङ्गारतिलके" से जो उद्धरण दिया है वस्तुतः वह "रसकलिका में प्राप्त होता है, शृङ्गारतिलक में नही ।")

3) 3. रुद्रभट्ट अयाचित – एक संस्कृत शास्त्रज्ञ पंडित । ये "अच्छावक प्रयोग" के प्रणेता याज्ञिक रघुनाथ के पिता थे ।

4) 4. रुद्रभट्ट कवीन्द्र – एक प्राचीन कवि । ये "पदार्थमाला" आदि ग्रन्थ के रचयिता लौगाक्षिभास्कर के पितामह थे, और "लौगाक्षिरुद्रभट्ट" के नाम से भी प्रसिद्ध है ।

5) 5. रुद्रभट्ट वैद्य – "सन्निपातकलिका" और "वैद्यजीवनटीका" के रचयिता । इनकी बनाई और भी 4 ग्रन्थो की टीका मिलती हैं । ये कोणेर–भट्ट के पुत्र और विष्णुभट्ट के पौत्र थे ।

(सन्दर्भ – हिन्दी विश्वकोष, बगला विश्वकोष के सम्पादक श्री नगेन्द्रनाथ बसु, प्राच्यविद्यामहार्णव और विश्वनाथ बसु तथा हिन्दी के विद्वानों द्वारा सलित – vol xix – 1929, पेज 630)

उपर्युक्त में अन्तिम तीन विद्वानों की निर्विवाद पहचान हो चुकी है प्रारभिक दोनो रुद्रभट्ट के विषय मे ही मतवैभिन्य है (जान पडता है जगन्नाथ विजयकाव्य (कन्नड) के रचयिता , के रसकलिका के कर्तृत्व के बारे मे भी सन्देह है अन्यथा डॉ0 एस0 के0 डे0 इसका उल्लेख अज्ञात लेखक ग्रन्थों की सूची में न करते (द्रष्टव्य– संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, लेखक डॉ सुशील कुमार डे, हिन्दी अनुवाद– श्री मायाराम शर्मा, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय नई दिल्ली, पेज–306, द्वितीय सस्करण 1988।) इस प्रश्न पर हम आगे विचार करेगे ।

शृङ्गारतिलक के अन्तिम पद्य में "रुद्र" नाम मिलता है अतः इन "रुद्र" की संभावना धनिक कृत दशरुपक की अवलोक टीका में उल्लिखित "यथा रुद्रस्य" के रुद्र से भी की जाती है तथा राजा वाक्पतिराज मुंज (975 सं 1022 ई0) के सभासद धनपाल (द्रष्टव्य–सस्कृत साहित्य का इतिहास बलदेव उपाध्याय पेज 407, संस्करण–1992) की तिलकमञ्जरी में उल्लिखित "रुद्र" से भी इनकी अभिन्नता प्रतीत होती है । डॉ एस0 के डे0 तथा महामहोपाध्याय भारतरत्न पी0 वी0 काणे का भी यही मत है ।

अब हम इन विभिन्न मतों का विस्तार से प्रतिपादन करेगे । हम पाते है कि रुद्र भट्ट, की स्थिति पॉच स्थानों पर सम्भावित है ।

(1) स्वयं रुद्रभट्ट (2) रुद्रट (3) "जगन्नाथ विजय काव्य" (कन्नड) और "रसकलिका" के रचयिता रुद्रभट्ट (4) धनिक के रुद्र और (5) धनपाल के रुद्र इनमें सर्वाधिक विवाद काव्यालङ्कार के रचयिता रुद्रट को रुद्रभट्ट से अभिन्न मानने के सम्बन्ध में है अतएव प्रथममेव इस का प्रतिपादन करते हैं ।

"काव्यालङ्कार" के प्रणेता रुद्रट को और शृङ्गारतिलक के प्रणेता रुद्र (रुद्रभट्ट) को अनेक विद्वान चिरकाल तक एक ही व्यक्ति समझते रहे । इन विद्वानों में प्रमुख हैं – पिशेल (Pischel), शृङ्गारतिलक पर भूमिका, 2DMG x/ii. 1888, पृ0 296–304ए 425), वेबर (Weber) (1nd Shud. xvi) औफेक्ट (Aufrecht) (ZDMGXXVii, पृ0 80–1, xxxvi पृ0 376, cat, Bod. 209b, cat, cat पृ0 528 इए 5309) और ब्यूहलर (Buhler) (Kashmir Rep पृ0 67)। पीटर्सन (Peterson) (Rep. I पृ0 14 सुभाष की भूमिका पु0 104–5, किन्तु इसके विरुद्ध, Report ii-19 पा0 टि0)ने इस अभिन्नता को संदिग्ध घोषित किया है और दुर्गा प्रसाद (शृङ्गारतिलक के स0, पृ0 1 पर पा0 टि0) और त्रिवेदी (एकावली के उनके स0 की टिप्पणी, पृ0 3) ने इसे अस्वीकार किया है । अन्तत दोनों लेखकों के ग्रन्थों की विस्तार से जांच करने के बाद जैकोबी ने यह कहकर इस विवाद का अंत कर दिया है कि संभवत. ये दोनों लेखक भिन्न व्यक्ति थे । (WZKM ii 1888 पृ0 151–56, ZDMG xiii पृ0 425 इत्यादि ।)

डॉ0 हरिचन्द ने अपनी पुस्तक "कालिदास" में अपना अभिमत देते हुए दोनों लेखकों को भिन्न व्यक्ति स्वीकार किया है । डॉ0 एस0 के0 डे0 व पी0 वी0 काणे प्रभृति अनेक विद्वानों का भी यही अभिमत है । अब हम उन संभावनाओं पर

विचार करेगे जिनके कारण "रुद्र"(रुद्रभट्ट) को "रुद्रट" समझा जाता रहा है। ये सभावनाएं निम्न है–

1) "शृङ्गारतिलक" के कुछ हस्त लेखो में इसके लेखक का नाम "रुद्रट" दिया गया है तथा शृङ्गारतिलक को काव्यालङ्कार संबोधित किया गया है ।

"इति रुद्रट विरचिते काव्यालङ्कार–शृङ्गारतिलके तृतीयपरिच्छेदः समाप्तः"

A Discriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts In Government Oriental Manuscripts Library Mras Vol xxii 1918, pp 8697-99.

2) इण्डिया आफिस कैटलाग (पृ0 321–322 स0 1131) मे "शृङ्गारतिलक" के लेखक का नाम "रुद्रट" और "रुद्रभट्ट" दोनो दिया गया है ।

3) कुछ हस्त लेखों में ग्रन्थ का नाम "शृङ्गारतिलकारव्य काव्यालङ्कार" और ग्रन्थकार का नाम "रुद्रभट्ट" दिया गया है।

Sanskrit Mss. Library tanjore no 5306 (p409)

4) इसी प्रकार प्रसिद्ध अलङ्कार ग्रन्थ "काव्यालङ्कार" के कुछ हस्तलेखों में इसके लेखक का नाम "भट्टरुद्र" दिया गया है ।

"इति भट्टरुद्रविरचिते काव्यालङ्कारे षोडशोध्यायः समाप्तः।"

CATALOGUE OF Sanskrit Manuscripts" The Maharaja of – Bikaner (1880) No. 610, P 284)

इस प्रकार चूंकि "काव्यालङ्कार" का लेखक "रुद्रट" भी काव्यालङ्कार की पाण्डुलिपि में ही "भट्टरुद्र" के नाम से और "शृङ्गारतिलक" का लेखक "रुद्रभट्ट" शृङ्गारतिलक की ही पाण्डुलिपि में "रुद्रट" नाम से भी उल्लिखित है, अतः भ्रम उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार कुछ उद्धरणों की अस्तव्यस्तताएँ देखें–

1) "शार्ङधरपद्धति" मे "काव्यालङ्कार" के दो श्लोक ऐसे उद्धृत किए गए है। जिनमें लेखक का नाम "रुद्र" और "भट्टरुद्र" दिया गया है।
2) वही एक श्लोक "काव्यालङ्कार" से "रुद्रट" के नाम से उद्धृत किया गया है।
3) "जल्हण" ने "सूक्तिमुक्तावली" मे "शृङ्गारतिलक" और "काव्यालङ्कार" दोनों से उद्धरण "रुद्र" के नाम से दिए हैं।
4) "श्रीधरदास" ने "सदूक्तिकर्णामृत" में "शृङ्गारतिलक" और "काव्यालङ्कार" दोनो से उद्धरण "रुद्र" के नाम से दिए है। (जानामि सत्यमनुमानत ... . पेज 7 पर को छोडकर जिसे "रुद्रस्य" अर्थात् रुद्र के नाम से दिया गया है किन्तु यह "काव्यालङ्कार" तथा "शृङ्गारतिलक" दोंनो में अप्राप्य है)
5) भावप्रकाशन और "रसार्णवसुधाकर" में शृङ्गारतिलक के मतो को रुद्रट के नाम से उद्धृत किया गया है।
6) इसी प्रकार "प्रतापरुद्रीय" में "काव्यालङ्कार" के मत "भट्टरुद्र" के नाम से उल्लिखित है।

इन बातो के अतिरिक्त एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि "रुद्रटकृत" "काव्यालङ्कार" अध्याय" 12–13–14–15 की सामग्री "शृङ्गारतिलक" के समान है। दोनों में विषय ही नहीं शब्दो का भी अत्यधिक साम्य है।

एक दूसरा कारण यह हो सकता है कि इनके नामों मे प्रायः साम्य है। परिणामतः उक्त पाश्चात्य विद्वानों से पूर्व भारतीय विद्वानों ने यद्यपि इन्हें एक व्यक्ति तो नहीं समझ लिया था पर "रुद्रट" के कतिपय पद्य "रुद्र" अथवा "रुद्रभट्ट" के ही समझ लिए गए। उदाहरणार्थ "शार्ङ्गधरपद्धति" में रुद्रट के एकाकिनी यदबला.. (काव्यालङ्कार 7/41, शा0 प0 3773) को "रुद्र" नाम के साथ सम्बद्ध किया गया है, और "मलयानिल"...... (काव्यालङ्कार 2/80, शा0 प0 3788)

को "रुद्रभट्ट" के नाम के साथ। इतना ही नहीं कश्मीरी पाडुलिपि (यह लिपि शारदा लिपि है) मे उपलब्ध श्रृङ्गारतिलक के अन्त में "रुद्र" के स्थान पर "रुद्रट" लिखा मिलता है।

एक कारण यह भी हो सकता है कि "रुद्रट" के ग्रन्थ का नाम है "काव्यालङ्कार" और "रुद्रभट्ट" के ग्रन्थ का नाम यद्यपि है तो "श्रृङ्गारतिलक", किन्तु वे इस ग्रन्थ के तीनों अध्यायो के अन्त में पुष्पिका के अन्तर्गत इसे "श्रृङ्गारतिलक" के स्थान पर "श्रृङ्गारतिलकाभिधान काव्यालङ्कार" कहते हैं। इससे यह सन्देह हो सकता है कि यह ग्रंथ "काव्यालङ्कार" का एक प्रभाग है और इस धारणा की पुष्टि इस तथ्य से हो जाती है कि इस प्रकरण और उसके अन्तर्गत नायक–नायिका भेद–प्रसंग को, जो "श्रृङ्गारतिलक" मे अति विस्तार के साथ सोदाहरण निरुपित हुआ है "काव्यालङ्कार" मे अति सक्षेप के साथ इसलिए निरुपित किया गया है कि इसे मानो वे अपने उक्त ग्रंथ मे प्रतिपादित कर चुके हैं अथवा करने का विचार रखते हैं। यदि यहां काव्यालङ्कार शब्द से तात्पर्य कोई ग्रन्थ–विशेष न लेकर इसे "साहित्य विद्या", "साहित्य शास्त्र" या "काव्यशास्त्र" का पर्याय मान ले तो इस दृष्टि से भी ये दोनों ग्रन्थ पूरक माने जा सकते हैं।

इतना ही नहीं, अनेक ऐसे पद्य हैं जो थोडे बहुत अंतर के साथ दोनो ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

उदाहरणार्थ–

तस्माद् यत्नेन कर्त्तव्यं काव्यं रसनिरन्तरम्।
अन्यथा रसविद्वद्गोष्ठ्यां तत्स्यात् उद्वेगदायकम ।। 1/8

"श्रृङ्गारतिलक" के इस रसमहत्ता सूचक पद्य की समानता "रुद्रट" के "काव्यालङ्कार" 12/2 से कीजिए–

तस्मात्तत्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।

उद्वजनमेतेषां शास्त्रवदेवान्यथा हि स्यात्।। काव्या० 12/2

इसी प्रकार–

साक्षाच्चित्रे स्वप्ने स्याद् दर्शनमेवमिन्द्रजाले वा ।

देशे काले भग्या साधु तदाकर्णन च स्यात्।। काव्या० 12/1

साक्षाच्चित्रे तथा स्वप्ने तस्य स्याद् दर्शनं त्रिघा।

देशेकाले च भंग्या च श्रवणं चास्य तद् यथा।। श्रृ.ति. 1/51

इस प्रकार "काव्यालङ्कार" और "शृङ्गारतिलक" के अधिकतर पद्य, छदभेद (क्रमश. अनुष्टुप और आर्या) को छोडकर शब्दशः समान हैं यद्यपि यह समानता कारिका भाग के पद्यों पर ही उपलक्षित होती है। अब चाहे इस की महिमा हो या फिर शृङ्गार के भेद (सम्भोग–विप्रलम्भ व पुनः प्रच्छन्न व प्रकाश) नायक का निरुपण हो या नायक के अनुकूल, दक्षिण, शठ, धूर्त, आदि तथा "विटचेटादि" नर्मसचिवों का वर्णन, यहां तक कि स्वकीया नायिका के 13 भेद व परकीया के 2 तथा वेश्या के एक प्रकार अर्थात् 16 भेदों तक, दोनो में वर्णन, सादृश्य ही नही अपितु क्रम–सादृश्य भी है।

एवमेव विप्रलम्भ शृङ्गार के लक्षण उसके पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुणात्मक 4 भेद, नायक नायिका की प्राप्ति में 10 अवस्थाएँ, मान की परिभाषा, मान का ढंग उसके गरीयान्, मध्यम और लघु 3 प्रकार, नायिका को प्रसन्न करने के साम, दान, भेद प्रणति, उपेक्षा और प्रसंगविभ्रंश इत्यादि छ. उपाय, प्रवास तथा नायिकाओं के सरवीजन के वर्णन मे भी शब्दश. व क्रमसाम्य है।

पुनश्च भयानक–रस व हास्य–रस के विभागों में तथा अन्य रसों के वर्णन में, क्रमशः तो नहीं, शब्दशः साम्य अवश्य है।

अन्त में शान्त रस का स्थायीभाव बताने वाला इस वर्णन प्रसंग में जो "रुद्रभट्ट" का पद्य है उसकी तुलना "रुद्रट" के "काव्यालङ्कार" में 15/15 पद्य से

करने पर एक बात तो करीब–करीब निश्चित ही हो जाती है कि या तो "रुद्रभट्ट" "रुद्रट" से अभिन्न थे अथवा रुद्रट के काव्यालङ्कार को सामने रखकर ही रचना कर रहे हैं यह बात असंदिग्ध हो जाती है। उक्त पद्य हैं–

"अथ शान्तः–

सम्यग्ज्ञानप्रकृतिः शान्तो विगतेच्छनायको भवति।

सम्यग्ज्ञानं विषये तमसो रागस्य चापगमात्।।"

काव्या 15/15

।।अथ शान्त रसः।।

सम्यग्ज्ञानोद्भवः शान्तः समत्वात्सर्वजन्तुषु।

गतेच्छो नायकस्तत्र मोहरागपरिक्षयात्।। श्रृति., 3/31,"

रुद्रभट्ट को रुद्रट सिद्ध करने का अन्तिम प्रबल यत्न भावप्रकाशन के संपादक महोदय ने किया।[1]

महामहोपाध्याय पी. वी. काणे का कहना है कि सुभाषितो ने रुद्रट और रुद्र नामों को परस्पर मिश्रित कर दिया है। जल्हण की सूक्तिमुक्तावली 1258 ई0 और श्रीधरदास का सदूक्तिकर्णामृत 1205 ई0, ये दोनों अत्यन्त प्राचीन सुभाषित संग्रह हैं, इन में भ्रम की स्थिति देखकर ज्ञात होता है कि नामो के विषय में यह भ्रम 1150 ई0 के पूर्व उत्पन्न हो चुका था। इसी आधार पर यह विनम्र अभिमत है कि हमारे लेखक की स्थिति 1150 से 200 या 250 वर्ष पूर्व होनी कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं मानी जानी चाहिए । अब इन सुभाषितसंग्रहों में क्रमशः भ्रम की स्थिति का विस्तार से निरीक्षण करते हैं–

जल्हण की सूक्तिमुक्तावली (1258 ई0) में–

(आर. पिशेल द्वारा सम्पादित श्रृङ्गारतिलक के अनुसार)– श्रृङ्गारतिलक 3/3, 1/95, 2/91, 1/114, 214, 1/49, 1/59, 1/140, 1/43, 1/77, 1/80,

1/68, 1/67, 2/12, 2/65, 1/71, 2/107, 1/51, 1/72, 1/35, 1/81, 1/30 ये श्लोक "रुद्रस्य" इस नाम से उद्धृत किये गये हैं जो ठीक है– किन्तु "एकाकिनी यदबला... ...""काव्यालङ्कार" vii/41, तथा "किंगौरि मा.... .. " काव्या0 2/15 को भी "रुद्रस्य" के नाम से दिया है, जो गलत है।

इसी तरह "यत्र न मदनविकार.. ...." तथा "यत्तापयन्ति शिशिरां. .... "ये दो उद्धरण भी "रुद्रस्य" कर के उल्लिखित हैं, किन्तु ये दोनों ही ग्रन्थों मे प्राप्त नही होते – एक श्लोक "रथ्यावस्करचत्वरा... ...."इत्यादि "भट्टरुद्रनाथस्य" इस उल्लेख से दिया है, जिसके बारे में कोई पता नही चलता ।

श्रीधरदासकृत सदूक्तिकर्णामृत (1205 ई0) में–

शृङ्गारतिलक 3/3 , 1/51, 1/73, 1/128, 1/129, 1/138, 1/133, 1/72, 1/140, 2/84, 2/91, 1/148, 1/32, 1/123, 1/94, 1/108, 1/107, 1/112, 2/10, 2/18, 2/94, 1/25 का उल्लेख "रुद्रटस्य" इस नाम से किया है जबकि उपरोक्त सभी पद्य "शृङ्गारतिलक" में है।

वहीं "जानामि सत्यमनुमानत,.................." इस पद्य को रुद्र के नाम से उल्लिखित किया है जो काव्यालङ्कार व शृङ्गारतिलक दोनों में ही नहीं मिलता। इसी प्रकार "सखि स विजितो..........." जिसका उल्लेख वे "रुद्रटस्य" के नाम से करते हैं वह भी दोनो में प्राप्त नहीं होता जबकि वहीं पर "रुद्रटस्य" के नाम से एक और पद "एकाकिनी परवशा.............." करते हैं जो काव्यालङ्कार 7/41 मे प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कहीं शृङ्गारतिलक के पद्य को रुद्रट के नाम से उल्लेख करना तो कहीं, काव्यालङ्कार का पद्य रुद्रट के नाम से देना (7/41) तो कहीं रुद्रस्य कह कर शृ.ति. का पद्य देना, क्या यह नामों में भ्रम का परिचायक नहीं ? अगर वे इन दोनों को एक मानते तो रुद्र और रुद्रट में से

किसी एक ही नाम का उल्लेख करते। नामो में भिन्नता का यह क्रम यह स्थापित करता है कि उस समय भी "रुद्र" यह एक ऐसा नाम था जिसका उल्लेख रुद्रट के ही साथ बराबरी पर किया जा सकता था । अगर कुछ अनिश्चित था, तो वह था उनकी रचना का काव्यालङ्कार से पार्थक्य। हम आगे इसी पर विचार करेगे।

तादात्म्य सम्बन्धी मत का प्रत्याख्यान

अब हम यत्नपूर्वक उन युक्तियो का प्रतिपादन करेगे जिससे पूर्वकथित भ्रमोत्पादक कारणो का निवारण हो जाता है तथा रुद्रट और रुद्रभट्ट का तादात्म्य असिद्ध हो जाता है–

वस्तुतः अलग अलग हस्तलेखों में "रुद्रट", "रुद्रभट्ट", "भट्टरुद्र" या "रुद्र" इन नामों का होना तथा सुभाषितों मे "काव्यालङ्कार" और "शृङ्गारतिलक"इन के उद्धरणों व वास्तविक लेखकों के नामो मे भ्रम सिर्फ यह सिद्ध करता है कि, जैसा कि महामहोपाध्याय पी0वी0 काणे का कहना है, नामो में भ्रम की यह स्थिति 1150 ई0 के पूर्व ही उत्पन्न हो चुकी थी, सुभाषितो ने इस भ्रम को और बढाया। इतना निश्चित रुप से पता है कि हेमचन्द्र के समय (1150 ई0) में यह ग्रन्थ उपस्थित था और भ्रम की स्थिति इतनी विकट थी कि स्वयं हेमचन्द्र ने भी इस के उद्धरण देते हुए तथा इसकी आलोचना करते हुए भी इस ग्रन्थ के कर्त्ता का नाम नहीं लिखा, तो ये अकारण नहीं था। भ्रम की यह स्थिति लेखक को 100 या 200 वर्ष पूर्व ले जाने में पूर्णतः सहायक है।

आगे चलकर यह भ्रम सुभाषितों के माध्यम से इतना बढा कि इसके कर्ता "रुद्रभट्ट", जिनका तादात्म्य अभी तक रुद्रट से ही किया जा रहा था, उन्हीं रुद्रभट्ट का तादात्म्य 12वीं शताब्दी के एक दक्षिण भारतीय विद्वान और "जगन्नाथविजयकाव्य" (कन्नड) के रचयिता "रुद्रभट्ट" से किया जाने लगा, जो बीर–बल्लाल ।। (1170–1220) के दरबार में थे और जो अपनी कृति में चन्द्रमौलि नामक एक मन्त्री का नाम लेते हैं जो कि वीर–बल्लाल ।। (1170–1220) के

दरबार मे था। इन "रुद्रभट्ट" की एक कृति रसकलिका है जिसके आधार पर "प्रतापरुद्रीय" के रचयिता "विद्यानाथ" रसकलिका के रचयिता "रुद्रभट्ट" और "शृङ्गारतिलक" के रचयिता "रुद्रभट्ट" के मध्य सशय मे पड जाते है, और रसकलिका का उद्धरण देते समय, "तथाचोक्त शृङ्गारतिलके" लिख जाते हैं। अतः यह संस्कृत साहित्य के इतिहास की एक विडम्बना है कि शृङ्गारतिलक के रचयिता रुद्रभट्ट को 9वी0 सदी से लेकर 12वी, 13वी. सदी तक के लेखको से संभावित किया जाता रहा ।

दिल्ली विश्वविद्यालय के दयालसिंह कालेज के प्राध्यापक डॉ रामचन्द्र वर्मा शास्त्री ने अपनी पुस्तक "शान्तरस का काव्यशास्त्रीय अध्ययन" में भी "जगन्नाथविजयकाव्य" (कन्नड) व "रसकलिका" ग्रन्थों के रचयिता रुद्रभट्ट व शृङ्गारतिलक के रचयिता "रुद्रभट्ट" को एक ही माना है।

कुछ लोग इन्हे "रुद्रट" से अभिन्न प्रतिपादित करने की एक युक्ति यह देते है कि "प्रतापरुद्रीय" मे "काव्यालङ्कार" का मत "भट्टरुद्र" के नाम से उल्लिखित है, उनसे हम ये पूछना चाहेंगें कि क्या वे यह कहना चाहते हैं कि विद्यानाथ "रुद्रट" और "रुद्रभट्ट" को अभिन्न और "काव्यालङ्कार" और "शृङ्गारतिलक" को एक ही व्यक्ति की रचना मानते थे ? अगर ऐसा था तो फिर जब वे रसकलिका के मत को "तथा चोक्तं शृङ्गारतिलके–" लिखते हैं तो क्या वे "रसकलिका" को भी रुद्रट की रचना मानते हैं? या फिर "जगन्नाथविजयकाव्य" (कन्नड) तथा "रसकलिका" के रचयिता दक्षिण भारतीय "रुद्रभट्ट" को भी वे "रुद्रट" से अभिन्न मानते हैं– जबकि इन दोनों के बीच लगभग 3 या 4 सौ वर्षो का अन्तर था। "रुद्रभट्ट" और "रुद्रभट्ट" नाम में भ्रम हो जाय, यह तो बात समझ में आती है किन्तु रुद्रभट्ट और रुद्रट का तो कोई तादात्म्य ही नहीं है। "रुद्रट" को उनके पिता के नामसादृश्य पर भट्टरुद्रट कहना समीचीन है और

अमरुशतक के टीकाकार अर्जुनवर्मदेव अपनी प्रसिद्ध रसिकरञ्जनी टीका मे भट्टरुद्रट ही कहते है रुद्रट को। अत विद्यानाथ "काव्यालङ्कार" को "भट्टरुद्र" या "रुद्रट" की रचना मानते हैं जो ठीक है, किन्तु "शृङ्गारतिलक" मे रचयिता के नाम साम्य से "रसकलिका" के प्रसंग में जो चूक जाते है वो इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि नाम में सशय–विपर्यय के बावजूद "शृङ्गारतिलक" के रचयिता का नाम "रुद्रभट्ट" ही सर्वाधिक प्रचलित था। केवल इतना ही नहीं बल्कि "रसकलिका" और "शृङ्गारतिलक" के बीच का विद्यानाथ का भ्रम इस तथ्य की पुष्टि करता है कि न तो उस समय तक "शृङ्गारतिलक" का रचयिता "रुद्रट" को माना जाता था न स्वयं विद्यानाथ ने ही यह भूल की। अत यह माना जा सकता है कि "शृङ्गारतिलक" उस समय अपने रुप में उपस्थित थी और इसके लेखक का नाम भी निर्विवाद रुप से "रुद्रभट्ट" ही था। "रुद्रट" भी अपने ग्रन्थ "काव्यालङ्कार" के कर्तृत्व के रुप में स्थापित थे। केवल शृङ्गारतिलककर्ता "रुद्रभट्ट" की पहचान का सङ्कट था कि वे किस देशकाल मे हुए, जो आज भी एक प्रश्न ही है।

हमें यह प्रतीत होता है कि "रुद्रट" के किसी अति उत्साही भक्त ने "शृङ्गारतिलक" को "रुद्रट" की रचना सिद्ध करने के लिए जानबूझकर प्रयत्न किया और इस प्रकार भ्रम उत्पन्न करने के लिए "काव्यालङ्कार" के द्वादश अध्याय के 40 वे श्लोक के बाद 14 श्लोक जोड दिए जो अब मूल में प्रक्षिप्त माने जाते हैं तथा जिनकी मूल ग्रन्थ के साथ कदापि संगति नहीं बैठती। "भावप्रकाशन" के सम्पादक के मत का खण्डन करते समय हम इसका विस्तार करेंगें।

संभवतः यही वो क्षण रहा होगा जहां से "रुद्रट" और "रुद्रभट्ट" में अभिन्नत्व का संदेह पनपा होगा। इसकी चरम परिणति हुई उस मत मे जिसे भाव प्रकाशन (शारदातनय) के सम्पादक ने व्यक्त किया है। ये "रुद्रट" और "रुद्रभट्ट" को अभिन्न कहने का तथा "काव्यालङ्कार" के साथ साथ "शृङ्गारतिलक" को भी

"रुद्रट" की रचना बताने का संभवतः अन्तिम किन्तु "सराहनीय" प्रयास था। अस्तु अब इनके मत का निराकरण करते हैं–

सम्पादक महोदय का सबसे महत्वपूर्ण अभिमत इस बात पर जोर देना है कि वे 14 श्लोक जो मूलत प्रक्षिप्त माने जाते हैं, प्रक्षिप्त नहीं बल्कि मूल हैं और इस प्रकार वे भावप्रकाशन मे आयी इन पक्तियो को, जो रुद्रट के नाम से उल्लिखित है, सही सिद्ध करना चाहते हैं–

"इत्थं शतत्रयं तासामशीतिश्चतरुत्तरा ।
सङ्ख्येयं रुद्रटाचार्यैरुपभोगाय दर्शिता ।।"

यह सत्य है कि यहा लेखक केवल "रुद्र और रुद्रट" के मध्य प्रचलित, परम्परा–वश ही "रुद्र" के मत को रुद्रट के नाम से उल्लेख कर रहा है जबकि इसे सत्य प्रतिपादित करने के लिए माननीय सम्पादक महोदय ने एडी चोटी का जोर लगा दिया। उन का इस प्रश्न के विषय में जिज्ञासु पाठको के लिए यह परामर्श है कि वे इन 14 आर्याओ को मूल मानकर पढ लें फिर वे स्वय उनके इस बात के हिमायती हो जायेंगें कि यें 14 आर्याएं तो वास्तव में मूल हैं– केवल भ्रमवश प्रक्षिप्त कह दी गई हैं। लेकिन समस्या यह है, कि यह सहमति तभी सम्भव है जबकि उन 14 आर्याओं से सचमुच 384 प्रकार की नायिकाओ की पुष्टि हो जाती किन्तु उनकी तो मूल–ग्रन्थ से संगति ही नहीं बैठती। हमें तो ऐसा लगता है जैसे सम्पादक महोदय ने स्वंय ही, ठीक से इन्हें नही पढा अन्यथा इससे उत्पन्न अयुक्तियों को, 41वीं कारिका को मूल मानते हुए भी, सम्पादक महोदय अनदेखी न करते। जहां तक बात नायिकाभेद संख्या की है– रुद्रट ने सर्वप्रथम नायिका के आत्मीया (स्वीया), परकीया और वेश्या तीन भेद किए हैं। पुनः आत्मीया के 13 प्रकार और परकीया के 2 प्रकार बताये हैं। इस प्रकार वेश्या को लेकर 16 प्रकार होते हैं। इन सभी के पुनः "अभिसारिका" और "खण्डिता" दो भेद किए हैं। इस प्रकार 13 प्रकार की आत्मीया–अभिसारिका और "खण्डिता",

"स्वाधीनपतिका" और "प्रेषितपतिका" के भेद से 52 प्रकार की + 4 प्रकार की परकीया और दो प्रकार की वेश्या को लेकर रुद्रट के अनुसार नायिका के केवल 58 भेद होते है।

रुद्रट का नायिका भेद

नायिका – 16 प्रकार
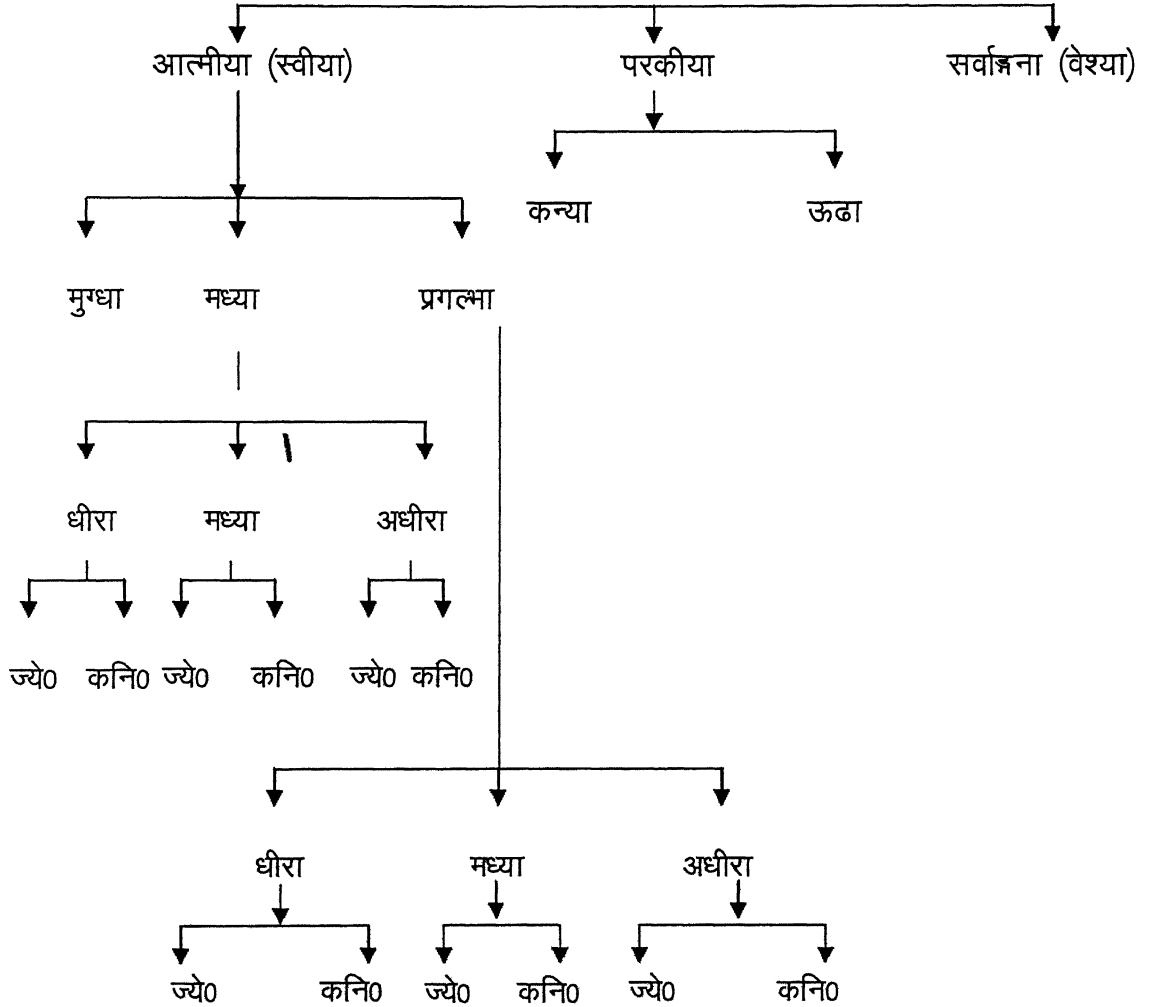
पुनः सभी 16 के अभिसारिका और खण्डिता

अब आत्मीया	13x2 = 26
परकीया	2x2 = 4
सर्वाङ्गना	1x2 = 2

पुनश्च आत्मीया (26) के दो भेद – स्वाधीन पतिका और प्रोषित पतिका

अतः आत्मीया 26x2 = 52

परकीया	2x2 = 4
सर्वाकना	1x2 = 2
योग	58

सम्पादक महोदय का 384 भेद मानना नितान्त भ्रामक है। यदि हम चौदह आर्यायो को प्रक्षिप्त न माने तथापि यह सख्या 384 नही होगी। क्योकि 384 तो तब होती जब नीचे की कारिकायें न होती। यह सर्वथा उपहासास्पद है कि 41 वी कारिका को मूल मानकर भी सम्पादक महोदय नायिका के 384 प्रकार और 14 आर्याओं को मूल मानते हैं। 14 आर्याओ को प्रक्षिप्त मानना सर्वथा समीचीन है। क्योंकि नमिसाधु की 44वीं कारिका की वृत्ति से यह सुतरा स्पष्ट है कि "रुद्रट" ने अवस्था के अनुसार नायिका का अष्टधा–वर्गीकरण नही किया है। नमिसाधु का कथन है–

"तत्र वासकसज्जा च विरहोत्कण्ठितापि वा।
स्वाधीनभर्तृका चापि कलहान्तरिता तथा।।
खण्डिता विप्रलब्धा च तथा प्रोषितभर्तृका।
तथाभिसारिका चैव इत्यष्टौ नायिकाः स्मृताः
तदत्रापिसंगृहीतम्।।"

यदि "रुद्रट" ने नायिका का अष्टधा विभाजन किया होता तब नमिसाधु को "तदत्रापि संगृहीतम" कहने की आवश्यकता न होती। ऊपर नमिसाधु ने कहा है– "तेन विप्रलब्धाकलहान्तरिते अत्रान्तर्भूते।" अर्थात् खण्डिता मे ही विप्रलब्धा और कलहान्तरिता का अन्तर्भाव किया है। प्रक्षिप्त कारिका में "अभिसधिता" शब्द "विप्रलब्धा" का स्थानापन्न है। इस प्रकार यह उचित नहीं कि एक बार 16 प्रकार की नायिकाओं को अवस्था के अनुसार अभिसारिका आदि आठ प्रकार की बताकर पुनः अभिसारिका और खण्डिता दो भेद किए जायें। इतना ही नहीं अगर इन 14

आर्याओ को प्रक्षिप्त न माना जाय तो अभिसारिका, खण्डिता, स्वाधीनपतिका एव प्रोषितपतिका इन की परिभाषाओं मे पुनरुक्तिदोष आ जायेगा। प्रक्षिप्त अश के चौथे श्लोक मे अभिसारिका की जो परिभाषा दी गई है श्लोक स0 42 मे उसे पुन. दोहराया गया है—इसी प्रकार प्रक्षिप्त अश की दूसरी कारिका में स्वाधीनपतिका की परिभाषा को 45वें श्लोक में पुन· दोहराया गया है— प्रक्षिप्तांश के 8वे व 9वे मे दी गई क्रमशः प्रोषित पतिका व खण्डिता की परिभाषाओ को 46वें व 44वें श्लोक मे दोहराया गया है। न सिर्फ इन पुनरुक्तियो मे सूक्ष्म अन्तर है बल्कि 8वे मे प्रोषितनाथा कहकर 46वे में प्रोषित पतिका शब्द है। इतना ही नही ग्रन्थकार जहां अभिसारिका को "कृतसङ्केता यथास्थानम् अभिसरण करने वाली" बताता है वहीं प्रक्षिप्तांश में इन शब्दों की कोई चर्चा ही नहीं है। अस्तु, चूकि संक्षिप्त 14 आर्याओं की संगति मूल के साथ किसी भी प्रकार नहीं बैठती अतः उन्हे प्रक्षिप्त मानना ही ठीक है ।

फिर भी अगर इस दुराग्रह को माना जाय तो 384 भेदो के पश्चात् पुन उन सभी के अभिसारिका और खण्डिता दो भेद होने पर 768 भेद होंगे जिसमें 624 स्वीया के होगे जो पुनः स्वाधीनपतिका व प्रोषितपतिका भेद से 1248 प्रकार की हो जायेगी। फिर इस प्रकार कुल नायिकाओ की संख्या 1248+768 =2016 होगी 384 नहीं। अत· 14 आर्याएं मूल का अंश कदापि नही हो सकतीं।

इसी प्रकार भावप्रकाशन के सम्पादक महोदय की अन्य युक्तियां निम्नोक्त हैं जिनका क्रमशः निराकरण करेंगें।

प्रथम – ग्रन्थ छन्दों के परिवर्तन के अतिरिक्त शब्दशः काव्यालङ्कार की अनुकृति है

द्वितीय – शारदातनय व शिंगभूपाल का अभिमत

तृतीय – रसार्णवसुधाकर से ज्ञात होना कि रुद्रट ही भिन्न मतों के लेखक थे।

चतुर्थ – रसों की संख्या में अन्तर (सभी व्यभिचारी–भावों का रस में परिवर्तन का मत, 9 व 10 रस, रचनाकाल के अन्तराल में परिवर्तित लेखक का मत)

पंचम – कैशिकी आदि अर्थवृत्तियां जबकि मधुरादि शब्दवृत्तिया–

षष्ठ – शृङ्गारतिलक का रुद्रट की रचना होना ।

अब क्रमश इनका निराकरण करते है–

प्रथम आपत्ति का निराकरण

कुछ विषय ऐसे होते हैं जिनका वर्णन करते हुए परवर्ती लेखक पूर्ववर्ती लेखको की शब्दावली का प्रयोग कर देते हैं। यह बात न्यूनाधिक मात्रा मे प्रत्येक शास्त्र में पाई जाती है। यह अनुकरण केवल कारिका–भाग मे ही लक्षित होता है। लेखक की मौलिकता उसके उदाहरणकर्तृत्व में दीख पडती है। यहां वह काव्यालङ्कार से नहीं अपितु अमरुशतक से प्रभावित है और उसी से तुलनीय भी। पुनश्च जहां स्वमत के उपस्थापन एवं पूर्ववर्ती के मत के खण्डन का प्रसंग आता है वहां स्वभावत शब्दावली बदल कर स्वीय बन जाती है। इस अनुकरण का मूल कारण है कि प्राचीनकाल में विद्वानों को प्रायः अनेक ग्रन्थ कण्ठस्थ होते थे। शृङ्गार तिलक के ही कई लक्षण श्लोक साहित्य दर्पण मे प्रत्यक्षर समान रुप से मिलते हैं। इस आधार पर दोनों का तादात्म्य तो सिद्ध नहीं किया जा सकता। 1569 मे अकबर के दरबार में "पदमसुन्दर" नाम के एक जैन लेखक हुए हैं। उनकी रचना "शृङ्गारदर्पण" (अकबरशाही) के बारे में डॉ0 एस0के0 डे का कहना है कि यह "रुद्रभट्ट" के "शृङ्गारतिलक" का ही दूसरा रुप है। अब क्या इतने भर से ये दोनों लेखक एक व्यक्ति कहे जायेंगें? स्पष्टतः नहीं।

द्वितीय और तृतीय आपत्ति का निराकरण

इस बारे में सिर्फ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये भी उस अवधि की रचनाएं हैं जब नामों में भ्रम पूर्णरुपेण बना हुआ था। उन सुभाषितों की परम्परा में ये एक नाम भर है।

चतुर्थ आपत्ति का निराकरण

महामहोपाध्याय पी. वी काणे के अनुसार भावप्रकाशन के सम्पादक ने रुद्रट और रुद्र के संख्या–विषयक मतभेद को तुच्छ माना है किन्तु जो विद्वान एतद्विषयक गम्भीर–विवाद से परिचित है, वे सम्पादक महोदय की उपरोक्त धारणा से सहमत नही होगे।

सम्पादक महोदय का यह मत कि रसो की सख्या–विषयक भेद, रचनान्तराल मे लेखक का मत परिवर्तित होने से हुआ होगा, पुष्ट प्रतीत नही होता। जब वे यह स्वीकार कर ही रहे हैं कि "काव्यालङ्कार" की रचना पहले और "शृङ्गारतिलक" की रचना बाद मे हुई तब यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि क्या "काव्यालङ्कार" की रचना के अनन्तर "शृङ्गारतिलक" की रचना में इतना अन्तराल आ गया था कि रुद्रट अपना 10 रसों का अभिमत ही विस्मृत कर चुके थे अथवा उनका अभिमत परिवर्तित हो गया था? वस्तुतः रचनावधि में इतने लम्बे अन्तराल और अपना ही अभिमत विस्मृत कर देना कथञ्चित संभव नहीं है। अब दूसरी सम्भावना यह है कि दोनो ग्रन्थो की रचनावधि मे अन्तराल इतना अधिक रहा हो कि तब तक रुद्रट का स्वय का अभिमत ही परिवर्तित हो गया हो अर्थात् वे स्वय 10 रसों के स्थान पर 9 रसों की संख्या को ही ठीक मानने लगे हों इस मत का निराकरण यह है कि रचना का इतना अधिक अन्तराल समुचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि सम्पादक महोदय का ही मत लें कि "काव्यालङ्कार" के पश्चात् शृङ्गारतिलक की रचना हुई तो इस की रचना सद्य. पश्चात् ही प्रारंभ हो गई होगी। शृङ्गारतिलक से संबंधित सामग्री काव्यालङ्कार के अन्तिम अध्यायों में ही प्राप्त होती है। अगर लेखक का मत परिवर्तित हो गया था तो उसने अपनी इस त्रुटि की स्वीकारोक्ति क्यों नहीं की? उसने अपने मत–परिवर्तन का उल्लेख क्यों नहीं किया, अथवा स्वयं काव्यालङ्कार के हस्तलेख में ही संशोधन क्यों नहीं किया?

सपादक महोदय जहा एक ओर इसके समर्थन में सभी व्यभिचारी–भावो के रस की दशा को सम्पन्न होने के मत का उल्लेख कर यह कहते है कि रसो की निश्चित सख्या रुद्रट के लिए महत्व नही रखती, वही दूसरी ओर 10 से 9 रस मानने को लेखक का मत–परिवर्तन बतलाते हैं। यह आश्चर्यजनक है कि जब रुद्रट के लिए रसो की सख्या का कोई महत्व ही नही था तब भला मत–परिवर्तन किस बात का हुआ होगा?

पांचवी आपत्ति का निरास

यह कथन विशेष महत्व नही रखता कि कैशिकी आदि वृत्तियां अर्थ से सम्बन्ध रखती हैं जबकि मधुरा इत्यादि रुद्रट द्वारा प्रतिपादित वृत्तियां शब्द से, क्योंकि इसका ऐक्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। शृङ्गारतिलक मे भी कैशिकी और आरभटी का लक्षण देते समय वर्ण, शब्द और समास के विन्यास पर बल दिया गया है–

माधुर्ययुक्तात्पसमासरम्या वृत्तिस्मृतासाविह कैशिकीति। 3/53

ओजस्विगुर्वक्षरगाढ़बन्धा, ज्ञेया बुधैः सारभटीति वृत्तिः।। 3/58

सम्पादक महोदय की पांचवी आपत्ति का निरास करते हैं कि सम्पादक महोदय के ही मतानुसार यदि रुद्रट को ही शृङ्गारतिलक का कर्ता मान लें और इसे उनकी परवर्ती कृति, तब एक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब रुद्रट ने दस रसों का प्रतिपादन करते समय निर्वेदादि व्यभिचारी भावों का उल्लेख किया है, इसी प्रकार शृङ्गार तथा नायक आदि का निरुपण भी किया है (काव्या0 12/3–9 आदि) शृङ्गार के लिए मधुरा एवं ललिता वृत्तियों तथा वैदर्भी एवं पाञ्चाली वृत्तियों का भी उल्लेख किया है, तब उन्हें कैशिकी आदि वृत्तियों का प्रतिपादन नहीं करना चाहिए था, जिनका शृङ्गारतिलक में प्रत्येक रस के व्यभिचारी

भावो का निरुपण करने के पश्चात वर्णन है। इस क्रमभेद का एक ही कारण प्रतीत होता है कि एक रचना दूसरी को देखकर लिखी गई।

भावप्रकाशन के सम्पादक महोदय के मतानुसार रुद्रट ने काव्यालङ्कार लिख चुकने के पश्चाम् शृङ्गारतिलक की रचना की। शृङ्गारतिलक को काव्यालङ्कार की अपेक्षा अर्वाचीन मानने मे हमें भी सन्देह नहीं किन्तु उसे रुद्रट की द्वितीय कृति कहने मे निम्न आपत्तिया हो सकती हैं–

यदि "काव्यालङ्कार" जैसी विशद और शास्त्रीय दृष्टि से समादृत कृति की रचना कर चुकने के उपरान्त रुद्रट ही पुन शृङ्गारतिलक की रचना करने जा रहे हैं तो–"यैः निस्सीमसरस्वतीविलसितैः द्वित्रै पदं संहतम्" कहने का कोई औचित्य नहीं था। काव्यालङ्कार जैसे अपेक्षाकृत व्यापक ग्रन्थ का प्रणयन कर चुका व्यक्ति दो–तीन परिच्छेद के ग्रन्थ का ग्रन्थन करके इतने अधिक आत्म–गौरव की अभिव्यक्ति नही करेगा ।

अगर शृङ्गारतिलक रुद्रट की ही द्वितीय कृति है तो उन्हे काव्यालङ्कार के कर्तृत्व का उसी तरह से उल्लेख करना चाहिए था जैसे वे "त्रिपुरवधादेव.... ......" इत्यादि श्लोक में "त्रिपुरवध" नामक किसी अद्यावधि अप्राप्य कृति का सङ्केत करते हैं।

काव्यारम्भ में लेखक ने –

काव्य शुभे विरचिते खलु नो–खलेभ्यः ।
कश्चिद्गुणों भवति यद्यपि संप्रतीह ।
कुर्यां तथापि सुजनार्थमिदं यतः किं।
यूकाभयेन परिधानविमोक्षणं स्यात्।

के द्वारा जो अपनी रचना के जनसम्मान के प्रति नैराश्य सूचित किया है उसका केवल यही निहितार्थ हो सकता है कि लेखक की कोई पूर्वकृति जनमानस या

विद्वज्जनो के बीच समुचित आदर न प्राप्त कर सकी। अगर ऐसी किसी पूर्वकृति का अस्तित्व संभव है तो, कम से कम वह "काव्यालङ्कार" तो नही ही रही होगी। बहुत सभव है कि यह वही "त्रिपुरवध" नामक कृति हो जिस का सङ्केत लेखक ग्रन्थान्त मे निम्न पंक्तियो के द्वारा करता है।

त्रिपुरवधादेव गतामुल्लासमुमा समस्त विबुधनुताम्।
शृङ्गारतिलकविधिना पुनरपि रुद्रः प्रसादयाति ।।

महामहिम पी0 वी0 काणे के भी मत मे पूर्वपक्ति मे लेखक ने "pun" अर्थात् श्लेष के माध्यम से "त्रिपुरवध" नामक अपनी पूर्वकृति का सङ्केत किया है।

(1) There is no doubt that there is a pun on the world त्रिपुरवध, शृङ्गारतिलक, और रुद्र (God Siva and the author #nz) "History of Sanskrit Portics" by P. V. Kane –P – 160 किन्तु उन्होने कहा कि सभव है "त्रिपुरवध" के द्वारा लेखक किसी अपनी रचना का नही अपितु "त्रिपुरदाह" नामक डिम (रुपक) की ओर सङ्केत कर रहा हो जिसका अभिनय भरत द्वारा भगवान शङ्कर व उनके परिचरवर्ग के समक्ष हुआ था। (देखिए नाट्य शास्त्र 4/10 तथा दशरुपक में धनिक का उद्धरण)–

इदं त्रिपुरदाहे तु लक्षणं ब्राहमणोदितं ।
ततस्त्रिपुरदाहश्च डिमसञ्ज्ञ· प्रयोजितः ।।

इस संबंध में यह विनम्र अभिमत है– चूंकि उपरोक्त कृति अद्यावधि अप्राप्य है अतः प्रमाणों के अभाव में इस पर कोई दावा यद्यपि नहीं किया जा सकता तथापि "त्रिपुरवधादेव" इन पंक्तियों को पढ़ने के बाद यही निहितार्थ निकलता है कि इनकी "त्रिपुरवध" नामक कोई कृति अवश्य है, जो हमें उपलब्ध नही हो पा रही है। यहां श्लेष का तात्पर्य भी इसी बात में है। भरत द्वारा जो डिम अभिनीत हुआ था वह "त्रिपुरदाह" था, "त्रिपुरवध" नहीं। अगर ग्रन्थकार को यही अभीष्ट

होता, तो वे "त्रिपुरदाहादेव..." लिखते "त्रिपुरवधादेव" नही। अनन्तर भी "त्रिपुरदहन" या इससे मिलते जुलते नामों वाली रचनाए लिखी गयीं (दृष्टव्य वासुदेव का "त्रिपुरदहन" तथा पद्मनाथ का त्रिपुरविजय–स0 सा0 का इति0 डा0 कपिलदेव द्विवेदी क्रमशः पेज 254 व 449) पुनश्च ये लेखक अगर अपनी इन कृतियों का नामोल्लेख करे तो क्या इसे भरत द्वारा अभिनीत "त्रिपुरदाह" माना जायेगा ?

फिर अगर इसको इसके सामान्य अर्थो में ले कि, त्रिपुरवध कोई कृति नही अपितु त्रिपुर नामक राक्षस को शिव द्वारा मारने की कोई घटना है जिसके द्वारा शिव ने उमा को परितोष प्रदान किया था, तो इन पक्तियो मे श्लेष रह ही नही जायेगा क्योकि फिर लेखक के पक्ष मे इस शब्द की संगति नहीं बैठेगी, जबकि महामहोपध्याय पी0 वी0 काणे महोदय इसमें श्लेष मानते है फिर उमा की पूर्वप्रसन्नता का कारण त्रिपुरवध ही क्यों? और भी तो कुछ हो सकता था।

इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण तर्क यह है कि "त्रिपुरवध" भी "शृङ्गारतिलक" की ही भांति शैव कृति मालूम होती है। पूरा शृङ्गारतिलक पढ जाने पर अगर किसी देवी देवता की चर्चा आती है तो वो शङ्करपार्वती ही है अथवा कामदेव। इससे लेखक का कट्टर शैवत्व सूचित होता है। डे महोदय ने भी इस तथ्य की ओर सङ्केत किया है।

लेखक का आरंभ में व्यक्त किया गया नैराश्य काव्यालङ्कार के पूर्वकर्तृत्व के सूचन का इसलिए निषेध करता है क्योंकि काव्यालङ्कार शास्त्रीय दृष्टि से एक समृद्ध–कृति है और जितनी हमें जानकारी है, हम इसके लोकसमादृत होने में भी सन्देह नहीं कर सकते। अगर ऐसा नहीं था तो अभेदवादी इस का क्या उत्तर देंगें कि फिर इसके प्रभाग के रुप में "शृङ्गारतिलक" लिख कर इसके विस्तार की क्या आवश्यकता थी ।

रुद्रट व रुद्रभट्ट को अभिन्न मानने तथा शृङ्गारतिलक को काव्यालङ्कार का प्रभाग मानने पर एक और प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है कि अलङ्कारजगत में प्रेयान् नामक एक नवीन रस की उद्भावना करने वाले रुद्रट अगर स्वय शृङ्गारतिलक के भी कर्त्ता होते तो वे "प्रेयान्" का स्थायी भाव व उदाहरण देकर इसे निश्चय ही स्पष्ट करते। इतना ही नही ग्रन्थारम्भ में मगलाचरण के ब्याज से नौ रसो का वर्णन करके "इत्थं सर्वरसाश्रयं" कहकर केवल 9 रसो की ही मान्यता न देते।

किञ्चित विज्ञजनों ने अभेदवादियो के इस तर्क की सम्भावना की है कि रुद्रभट्ट के ग्रन्थ का नाम यद्यपि है तो "शृङ्गारतिलक" तथापि पुष्पिका मे वे इसे "शृङ्गारतिलकाभिधान काव्यालङ्कार" लिखते हैं, अतः यह सोचा जा सकता है कि यह ग्रन्थ काव्यालङ्कार का एक प्रभाग होगा। इस पर वे आगे तर्क देते हैं कि रस–प्रकरण और उसके अन्तर्गत नायक–नायिका वर्णन को, जो शृङ्गारतिलक मे विस्तार के साथ निरुपित हुआ है, काव्यालङ्कार में अतिसक्षेप मे इसलिए निरुपित हुआ है, मानो वे इसे अपने उक्त ग्रन्थ में प्रतिपादित कर चुके हों अथवा करने का विचार रखते हों। इस संबंध मे यह विनम्र अभिमत है कि ग्रन्थ के नाम में किसी भी सन्देह का अवकाश ही नहीं है। ग्रन्थान्त में अन्तिम तीनों अनुष्टुप ग्रन्थ नाम "शृङ्गारतिलक" का स्पष्ट उल्लेख करते हैं इनमें भी "शृङ्गारतिलको नाम ग्रन्थोऽय रचितो मया" कहकर रुद्रभट्ट नाम के संबंध में किसी भी विवाद का स्पष्ट पटाक्षेप कर देते है। अतः यह तो निश्चित है कि पुष्पिका में उल्लिखित "काव्यालङ्कार" शब्द सामान्य अर्थो अर्थात्, साहित्यविद्या या सौंदर्य–शास्त्र के ही अर्थ में प्रयुक्त है, ग्रन्थ के नाम का अंश नहीं है हम जानते हैं कि उन दिनों साहित्यविद्या के लिए "काव्यालङ्कार" यह सामान्य शब्द प्रयुक्त होता था। भामह के ग्रन्थ का भी नाम "काव्यालङ्कार" था तथा इसी प्रकार वामन ने अपने ग्रन्थ का नाम "काव्यालङ्कार–सूत्र" रखा। अतः "काव्यालङ्कार" का पुष्पिका में उल्लेख एक

सामान्य बात है, यह रुद्रट के कर्तृत्व या "काव्यालङ्कार" के एक प्रभाग होने का प्रमाण नही है। यदि रुद्रट ही इसके रचयिता होते तब भी आवश्यक नही था कि वे इस का नाम भी काव्यालङ्कार ही रखते। अपनी दो कृतियो का एक ही नाम रखने का कोई और उदाहरण नहीं प्राप्त होता। यह ग्रन्थ काव्यालङ्कार का प्रभाग इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा होने की स्थिति में ग्रन्थकार इसी कृति में काव्यालङ्कार के पूर्वकर्तृत्व का उल्लेख अवश्य करते।

आरभ मे हमने काव्यालङ्कार से इस ग्रन्थ के साम्य का उल्लेख किया था, वस्तुतः इससे इसके वृत्तिभाग में इतनी समानताएं है कि प्रतीत होता है मानो छन्द परिवर्तन मात्र से उन्हीं शब्दो को रख दिया गया है। ध्यातव्य है कि यह समानता केवल वृत्तिभाग में ही दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण भाग शृङ्गारतिलककार की मूल अभिव्यक्ति है । इन समानताओ के परिप्रेक्ष्य मे महामहोपाध्याय पी0वी0 काणे का भी मत है कि, "ऐसा प्रतीत होता है मानो एक रचना दूसरी को देखकर लिखी गयी है।"

अब हम विभिन्न प्रमाणों के आलोक में रुद्रभट्ट द्वारा रुद्रट के अनुकरण का निदर्शन करेंगें।

<u>अनुकरण के साक्ष्य</u>

ग्रन्थ के समग्र परिशीलन से विभिन्न समानताओं के अतिरिक्त हमें कुछ ऐसे साक्ष्य मिले जो रुद्रभट्ट को रुद्रट का अनुकर्त्ता प्रमाणित करते हैं– ये साक्ष्य क्रमशः निम्न हैं–

अनुकरण का प्रथम साक्ष्य हम वेश्या–वर्णन प्रसंग में पाते हैं। रुद्रट ने वेश्या का लक्षण काव्यालङ्कार 12/39 में निम्न शब्दों में दिया है–

सर्वाङ्गना तु वेश्या सम्यगसौ लिप्सते धनं कामात् ।

निर्गुणगुणिनोस्तस्याः न द्वेष्यो न प्रियः कश्चित् ।।

12/39 **Kvl.**

इसे रुद्रभट्ट ने ऐसे लिखा है –

सामान्यवनिता वेश्या सा वित्तं परमिच्छति ।

निर्गुणेऽपि न विद्वेषो न रागः स्याद् गुणिन्यपि ।।

तत्स्वरुपमिद प्रोक्तं कैश्चित्.... ... .

उपरोक्त पक्तियो को देखने पर यह बात सदेह से परे हो जाती है कि एक रचना दूसरी को देखकर लिखी गयी है। अब जब यह निश्चित हो जाता है कि अनुकरण हुआ है तब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि किसने किसका अनुकरण किया? इस सबंध में "कैश्चित्" शब्द का प्रयोग महत्वपूर्ण है। महामहोपाध्याय काणे के अनुसार यह शब्द रुद्रट की ओर सङ्केत करता है जो समीचीन लगता है।

"कैश्चित" के आगे की पक्तियों में रुद्रभट्ट रुद्रट के लक्षण की असंगति सिद्ध करते हैं। उन्हीं के "शृङ्गाराभासः स तु यत्र" 14/36...काव्या0, के अनुसार वेश्या में अगर अनुराग नहीं होता तो यह इकतरफा प्रणयव्यापार शृङ्गाराभास के रुप में निबद्ध होगा, शृङ्गार के रुप में नहीं। वे इसका और उग्र खण्डन करते हुए शृङ्गाराभास को हास्य के रुप में निबद्ध करते हैं। उनका कहना है कि वेश्याएं अगर राग–वर्जिता है तो उनके "स्मर" कामदेव को क्या बगुलों ने चर लिया?

एक और साम्य आगे परिलक्षित होता है जब रुद्रट कहते हैं–

गम्यं निरुप्य सा स्फुटमनुरक्ते वाभियुज्य रञ्जयति।

आकृष्ट सकलसारं क्रमेण निष्कासयत्येनम् ।।

इसे ही रुद्रभट्ट अन्य प्रकार से कहते हैं–

इत्यादी प्रथमं ग्राम्याञ्ज्ञात्वाऽकृष्य च तद्धनम्।

अपूर्वा इव मुञ्चन्ति तानेतास्तापयन्ति च।।

1/25, श्रृति.

इससे आगे रुद्रभट्ट यह जोडते हैं कि –

किंतु तासां कलाकेलिकुशलानां मनोरमम्।

विस्मारितापरस्त्रीक सुरतं जायते यथा।।

इस सम्बन्ध मे रुद्रभट्ट रुद्रट से सर्वथा भिन्न है। रुद्रट ने अपने पूरे ग्रन्थ मे वेश्याओं के लिए एक भी अच्छा शब्द नहीं कहा है जबकि रुद्रभट्ट, उपरोक्त श्लोक के अतिरिक्त, 1/128–29–30 मे वेश्याओं की प्रशसा के पुल बाध देते हैं।

अनुकरण का द्वितीय साक्ष्य हम "विरस रस" के प्रसंग में देखते हैं। यहां केवल वृत्तिभाग ही नहीं अपितु उदाहरण का भी अनुकरण हुआ है। "विरस" की व्याख्या करते हुए रुद्रट कहते हैं कि किसी भिन्न रस के प्रसंग मे जब कोई अप्राकरणिक रस आ जाता है तो उसे विरस कहते हैं–

अन्यस्य यः प्रसंगे रसस्य निपतेद्रसः क्रमापेतः।

विरसोऽसौ स च शक्यः सम्यग्ज्ञातुं प्रबन्धेभ्यः ।।

11/12 काव्या0

रुद्रभट्ट ने इस लक्षण को ही स्वीकार कर लिया है जो दोनों उदाहरणों को पढने से स्पष्ट हो जाता है।

तव वनवासोऽनुचितः पितृमरणशुचं विमुञ्च किं तपसा।

सफलय यौवनमेतत्सममनुरक्तेन सुतनु मया।।

रुद्रट, काव्या0 11/13 रुद्रभट्ट का उदाहरण देखें–

विहाय जननीमृत्युशोकं मुग्धे मया सह।

यौवनं आनय स्पष्टमित्यादि विरसं मतम्।।

3/76 शृ0 ति0

आगे रुद्रट ने विरस का विस्तार करते हुए जो दूसरा लक्षण माना है रुद्रभट्ट ने उसका शब्दशः अनुकरण करते हुए "केचन्" इस शब्द के माध्यम से उसे ही उद्धृत किया है।

क्रमश. दोनो के लक्षण दिए जा रहे हैं–

यः सावसरोऽपि रसो निरन्तरं नीयते प्रबन्धेषु।

अतिमहतीं वृद्धिमसौ तथैव वैरस्यमायाति।।

काव्या 11/14

अब इस पर रुद्रभट्ट की शब्दावली का अवलोकन करें–

प्रबन्धे नीयते यत्र रस एको निरन्तरम्।

महतीं वृद्धिमिच्छन्ति विरसं तच्च केचन।।

दोनों की शब्दावलियों को देखने पर अनुकरण स्पष्ट हो जाता है। चूंकि रुद्रभट्ट ने "केचन्" कहा है अतः वे अर्वाचीन ठहरते हैं।

अनुकरण का तृतीय महत्वपूर्ण साक्ष्य हम शान्त रस के प्रसंग मे पाते हैं। रुद्रभट्ट रसो के नामकरण के अवसर पर "शान्त" का स्थायी भाव "शम" को बताते हैं। यहां वे उद्भट से सहमत हैं जबकि रुद्रट शान्त का स्थायी भाव "सम्यक्–ज्ञान" को बताते हैं । दृष्टव्य है–

सम्यग्ज्ञानप्रकृतिः शान्तो विगतेच्छनायको भवति।

सम्यग्ज्ञानं विषये तमसो रागस्य चापगमात्।।

पुनः रसविस्तार के प्रसंग में रुद्रभटट पूरी तरह से रुद्रट की शब्दावली पर उतर आते हैं– दृष्टव्य

सम्यग्ज्ञानोद्भवः शान्तः समत्वात्सर्वजन्तुषु।
गतेच्छो नायकस्तत्र मोहरागपरिक्षयात्।।

3/31 शृ.ति

अनुकरण के इन तीन महत्वपूर्ण साक्ष्यो से रुद्रभट्ट की रुद्रट से अर्वाचीनता लगभग प्रमाणित हो जाती है एवं प्रचीनता का निराकरण भी हो जाता है।

असहमति के बिन्दु

अब हम उन महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर ध्यान एकाग्र करेगें जिन बिन्दुओं पर श्रृंगारतिलककार काव्यालङ्कारकर्ता से असहमत है।

रुद्रट मूलतः काव्यशास्त्री हैं जबकि रुद्रभट्ट मूलत कवि। रुद्रट का नैतिक मापदण्ड अपेक्षाकृत ऊँचा है– रुद्रट ने कवियों द्वारा परस्त्रीगमन के उपायों का वर्णन निषिद्ध घोषित किया। उनके अनुसन्धान एवं उपायों की वर्ज्य बतलाया[2] केवल विद्वज्जनों की आराधना हेतु काव्य के अग के रुप में अर्थात बहुत अनिवार्य स्थितियों में इसके वर्णन की अनुमति दी है।[3] शास्त्रों के "सब प्रकार से अपनी रक्षा करे" इस काव्य के आधार पर अत्यंत कठिन विपत्ति मे पडने पर ही नायक को इसमें प्रवृत्त होने का उपदेश दिया[4] ,जबकि रुद्रभट्ट ने नैतिकता की एक औपचारिक आड[5] लेकर परस्त्रीगमन का रसयुक्त वर्णन किया है।[6] इतना ही नहीं, उन्होंने सज्जन पुरुषों में भी इसे स्वाभाविक बताया है।[7] इस संबंध में रुद्रभट्ट का श्रृङ्गारिक–आयाम वस्तुतः विस्तृत है।

रुद्रट का कहना है कि नायक सभी उपायों से जब नायिका को प्राप्त करने में सफल न हों सके तब नायक को चाहिए कि वह कन्या को पित्रादिकों से (याचना कर) प्राप्त करे।[8] रुद्रभट्ट चूंकि ऊढ़ा को (परस्त्री को) भी प्राप्त करने

योग्य मानते हैं (और ऊढा पित्रादिको से प्राप्त करने योग्य नही होती) अत समस्त उपायो के विफल होने पर अन्य नायिका की ओर प्रवृत्त होने की सलाह देते हैं।

रुद्रट का नायक मर्यादित है। संभवत वह नायिका का पति है या फिर होने वाला पति है। उसकी चेष्टाएं मर्यादित है। नायिका को मनाने के छः उपायों में वह कही कोई अमर्यादित आचरण नहीं करता जबकि रुद्रभट्ट का नायक उन्ही छः उपायो मे नायिका को चूमने की अनुमति भी पा लेता है।[9] वह "दूरादागत" है, भीतिमत् "डरा हुआ" है।

रुद्रट के मत मे वेश्या सिर्फ धन से अनुराग रखती है उनकी मर्यादित बुद्धि मे वेश्या के प्रति या वेश्या का किसी के प्रति प्रेम सभव नहीं है। वेश्या के इसी लक्षण को रुद्रभट्ट "केचन" कह कर उद्धृत करते हैं जो संभवत रुद्रट की ओर सङ्केत है,और इसका खण्डन भी वे करते हैं। वे "बलवती युक्तियो से" वेश्या में अनुराग सिद्ध करने जा रहे हैं। काव्या0 14/36 का ही मानों वे संदर्भ दे कर वे कहते हैं कि शृङ्गार तो दोनों ओर से होता है अन्यथा केवल एक ओर से अनुराग होने पर वह शृङ्गार नहीं अपितु शृङ्गाराभास होगा और इसे वे हास्य के रुप में निबद्ध करते हैं। फिर अगर पुरुषो के मन में वेश्याओं के लिए अनुराग है तो वेश्याओं के अनुराग को क्या बगुलों ने चर लिया है। रुद्रभट्ट आगे कहते हैं कि कला व क्रीडाओं में कुशल वेश्याओं का सुरत "मनोरम" होता है तथा "विस्मारितपरस्त्रीक" (अन्य किसी स्त्री को पल भर के लिए भुला देने वाला) होता है। आगे पुनः 3 श्लोकों के द्वारा वे वेश्याओं का गुणगान करते हैं।[10]

रुद्रट की नायिका का क्रोध नायक के दोषों को देखकर देश, काल व पात्र के प्रसंग से असाध्य, दुःसाध्य व सुखसाध्य इन 3 प्रकार का होता है,[11] वहीं रुद्रभट्ट कहते हैं कि स्त्रियों का कष्टसाध्य कोप भी देश और काल के बल से सुखसाध्य हो जाता है।[12] इस प्रकार रुद्रट ने 3 प्रकार के प्रसंग व तीन ही प्रकार के कोप बतलाये जबकि रुद्रभट्ट केवल दो प्रकार के प्रसंग व दो ही प्रकार के

कोप बताते। यद्यपि रुद्रभट्ट आगे चल कर पात्रोल्लेख का भी सङ्केत करते है[13] तथापि यह अनुकरण मात्र है।

कामियो की दश दशाओ के वर्णन मे अन्तिम दशा मरण के मानने पर विवाद है। रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु का कथन है–

"मरणं तु केचिन्नेच्छन्ति दशाम्। मृतस्य हि कीदृशः शृङ्गारः। यैरुक्तं ते तु मन्यन्ते (नवमीं दशां प्राप्तस्य निरुद्यमस्य मरणमेव दशमी दशा स्यात् ततस्तामप्राप्तेन नायकेन तन्निषेधार्थं यतितव्यमिति दर्शनार्थं दशमी दशोक्ता।)"

उनका यह कथन, कि कुछ लोग (केचन्) काम दशा नही मानते, कदाचित् रुद्रभट्ट की ओर सङ्केत है। "यैरुक्तं ते तु मन्यन्ते" कहकर वे सङ्केत देते हैं कि रुद्रट को यह दशा अमान्य नही है। अब अगर हम प्रश्न करें कि "यैरुक्तं ते तु मन्यन्ते" यह पंक्ति तो रुद्रभट्ट पर भी लागू होती है, फिर उनके बारे में यह बात क्यों नही? इसका उत्तर यह है कि रुद्रभट्ट ने परम्परानुसार दश दशाओ का नामसङ्कीर्तनमात्र करके पुनः वर्णन करते समय उसको मानने का खण्डन किया है[14] जबकि रुद्रट ने नामोल्लेख के पश्चात् उसका खण्डन नही किया है अत "मौन स्वीकार लक्षणं" के अनुसार इसे रुद्रट की सहमति माना जा सकता है। जबकि रुद्रभट्ट इससे असहमत है"। रुद्रभट्ट का कहना है कि प्रत्युज्जीवनेच्छा से भी इस अवस्था का वर्णन केवल घटित वृत्त में प्रशस्य है–उत्पाद्य या कल्पित में नहीं। यद्यपि करुण–विप्रलम्भ पर दोनों में मतैक्य है जो आश्चर्यजनक है।

जहां तक "विरस दोष" की बात है, यह सभव है कि रुद्रभट्ट ने रुद्रट से इसे लिया हो तथापि इसकी परिकल्पना वं रस–दोषों के क्रम मे रुद्रभट्ट की अपनी मौलिक कल्पना है। क्योंकि रुद्रट इसे अर्थ दोषों के क्रम में रखते हैं।[15] "अन्येष्वपि रसेष्वेता दोषा वर्ज्या मनीषिभिः" कहकर रुद्रभट्ट "रसेषु" के द्वारा स्पष्ट कर देते हैं कि वे केवल रसदोषों का ही वर्णन कर रहे हैं, तथा "अन्येषु" के

द्वारा यह कि केवल शृङ्गार का ही वर्णन कर रहे हैं, किसी अन्य रस का नही। एवमेव रुद्रट को यदि रस दोष अभीष्ट होते तो अपनी प्रविधि के अनुसार रसचर्चा के पश्चात्, वे रस–दोषो का भी उसी प्रकार विवेचन करते जैसे उन्होने शब्दालङ्कार के पश्चात्, शब्द दोष तथा अर्थालङ्कार के पश्चात् अर्थदोषों का विवेचन किया है। यहां उल्लेखनीय है कि शृङ्गारतिलक में रस दोषो का विवेचन है। नौ व दस रस–विषयक मान्यताओ की चर्चा की जा चुकी है एव जो लोग रस–संख्या–विषयक विवाद से परिचित हैं उन्हें इसकी गंभीरता समझते विलम्ब न होगा।

नायिका भेद पर अतिशय मतवैभिन्न्य है। रुद्रट के मत मे नायिकाए 58 प्रकार की हैं। वे नायिकाओं के पारंपरिक अष्टधा–विभाजन से भी सहमत नही, जबकि रुद्रभट्ट भरत–सम्मत नायिका के अष्ट–विभेद समेत नायिकाओं की कुल सख्या 384 बताते हैं (नायिकाओं का दोनों का विशद वर्गीकरण प्रारंभ में दे चुके हैं।)

इसी प्रकार वृत्तियों के सम्बन्ध मे मतैक्य नहीं है। रुद्रभट्ट भरतसम्मत 4 वृत्तियो कैशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती, का उन्हीं के शब्दों में उल्लेख करते हैं।[16] इसी कारिका को, जो भरत के नाट्यशास्त्र से शब्दश· उद्धृत है, प्रथम परिच्छेद में उल्लेख करके वे पुनः तृतीय परिच्छेद मे शब्दानुवर्तन[17] कर पुनः उसे विस्तार देते हैं। किन्तु रुद्रट की आस्था भरत–सम्मत उक्त 4 वृत्तियों में नहीं है वे मधुरा, परुषा, प्रौढा, ललिता और भद्रा नामक 5 वृत्तियां बतलाते हैं।

रुद्रट ने नायिका को मनाने के छः उपायों में से उपेक्षा का अर्थ अवधीरण (तिरस्कार) लिया है[18] जबकि रुद्रभट्ट के अनुसार उपेक्षा का अर्थ– "प्रसादन – विधि को छोडकर अन्यार्थसूचक वाक्यों के द्वारा नायिका को प्रसन्न करना" है।[19] उनके द्वारा दिए गए उदाहरण से यह वैषम्य स्पष्ट हो जाता है।[20]

रुद्रभट्ट के मत मे सामदानादिक छ· उपायो के द्वारा केवल नायक ही नायिका को न मनाये अपितु नायिका भी नायक को मनाए जबकि रुद्रट नायिका द्वारा नायक को मनाने का उल्लेख न कर के इकतरफा प्रणय व्यापार का सूचन करते हैं। प्रवास पर भी दोनो विद्वानो मे मतैक्य नहीं है। रुद्रट के मतानुसार ऋतु के अनुरुप अवस्था वाला नायक विदेश जायेगा, जा रहा है, जा चुका है, घर आयेगा, आ रहा है, आ चुका है, इस अवस्था मे तथा नायक के ऋतु के अनुकूल अवस्था न होने पर भी प्रवास होता है।[21] जबकि रुद्रभट्ट अत्यन्त सरल शब्दो में "प्रिय के किसी कारणवश अन्य स्थान पर चले जाने" मात्र को प्रवास बतलाते हैं और इसे दोनों के लिए कष्टदायी बताते है।[22]

रुद्रभट्ट का वैशिष्ट्य

अब हम शृ.ति. के उन बिन्दुओं पर चर्चा करेगें जो अपनी गुणवत्ता मे विशिष्ट हैं। ये बिन्दु निम्नवत हैं–

रुद्रभट्ट के मत मे– नायिका को चाहिए कि वह प्रिय को अधिक खिन्न न करे। केवल प्रणतिरुप उत्सव की प्राप्ति के लिए कभी–कभी थोडा मान करना चाहिए।[23]

नायिका को भी प्रिय के प्रति सामदानादिक छः उपायों का प्रयोग करना चाहिए। नायिका को क्रुद्ध पति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, वहां कुछ अन्य कारण होना चाहिए।[24]

"स्नेह के बिना भय नही होता और ईर्ष्या के बिना काम नहीं होता इसलिए यह मान का प्रकार दोनों (नायक और नायिका) के प्रेम को बढ़ाने वाला होता है"[25]

प्रसन्नता एवं अप्रसन्नता के समय नायिका द्वारा दिए गए प्रिय के नाम[26]

गर्व से, व्यसन से, बुराई से, कठोर वचन बोलने से लोभ से और अधिक दिनों तक प्रवास करने से, पति स्त्रियों के लिए द्वेष के योग्य हो जाता है।[27]

यह स्वभाव सुन्दर स्थिति है कि पहले स्त्री अनुरक्त हो, फिर उसके इशारो से पुरूष बाद मे आसक्त हो और तब संभोगसम्बन्धिनी लीला हो[28] किन्तु यदि दोनो का समान प्रेम हो तो इसके विपरीत भी हो तो कोई दोष नही[29] नायिकाओ के (आठ) सखीजन[30] उनके गुण[31], उनके कार्य[32] इत्यादि शृङ्गारतिलक की अपनी मौलिक उद्भावनाए हैं जिनका उल्लेख काव्यालङ्कार मे नही है।

रुद्रट ने "एक के विरक्त होने पर भी दूसरा उसमे आसक्त हो" तो उसे शृङ्गाराभास कहा है।[33] रुद्रभट्ट ने एक कदम और आगे बढकर इस शृङ्गाराभास को हास्य के रुप में निबद्ध किया है।[35]

रुदभट्ट ने रुद्रट के विपरीत परस्त्री का शृङ्गारिक वर्णन किया है[34] उन्होने इसे सज्जनों में भी स्वाभाविक बताया है जो रुद्रट के लिए सर्वथा अकल्पनीय है। रुद्रट का कहना है कि कन्या की प्राप्ति में प्रयत्न का उपदेश तो दुष्ट नहीं है किन्तु परायी स्त्री आदि के विषय मे तो महापाप होने के कारण दुष्ट है। पुनः काव्याङ्गतया उसका वर्णन करने को लेकर भी वे नैतिक संस्कारवश गम्भीर शास्त्र–चिन्तन करने लगते हैं।[36]

रुद्रभट्ट और दशरुपककार

धनिक का प्रामाण्य – उपरोक्त बिन्दुओं पर चर्चा के उपरान्त हम इस संबंध में धनिक के प्रामाण्य पर विचार करते हैं। आचार्य पी० वी० काणें ने हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि धनिक ने किन्हीं रुद्र के नाम से एक उद्धरण दिया है। यदि ये रुद्र हमारे ही रुद्र हैं तो इनकी स्थिति निश्चय ही 10वी शती से पूर्व ठहरती है। अपने "संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास" में महामहिम पी० वी० काणे उल्लेख करते हैं–

"Dhanik in his comment on Dashrupak (N-60) says - उत्स्वप्नायितो यथा रुद्रस्य"

तत्पश्चात् जो उद्धरण दिया गया है वह इस प्रकार है।

निर्मग्नेन मयाम्भसि स्मरभरादाली समालिङ्गिता,

केनालीकमिद तवाद्यकथितं राधे मुधा ताम्यसि।

इत्युत्स्वप्नपरम्परासु शयने श्रुत्वा वचः शांर्ङ्गिणः,

सव्याजं शिथिलीकृतः कमलया कण्ठग्रहः पातु वः ।।

डॉ एस0के0 डे0 के मतानुसार यदि धनिक द्वारा उल्लिखित रुद्र हमारे ही रुद्र हैं तब उनकी स्थिति 10वीं शती से पहले निर्धारित की जानी चाहिए। किन्तु जैसा कि डॉ डे ने ही उनके कट्टर शैवत्व की सम्भावना बताई है, यह श्लोक राधा और कृष्ण की प्रणयलीला के वर्णन करने के कारण उस धारणा से सगत नहीं होता। ए0बी0 कीथ महोदय ने अपने "संस्कृत साहित्य के इतिहास" मे उपरोक्त पद्य उमापतिधर द्वारा रचित बताया है।[37] उमापतिधर बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के दरबार में गीतगोविन्दकार जयदेव के साथ विराजते थे। जयदेव ने इनका उल्लेख अपने ग्रन्थ के प्रारंभ में "वाच· पल्लवत्युमापतिधर·" कहकर उल्लेख किया है।[38] किन्तु इसे उमापतिधररचित मानना भी सगत नहीं लगता। उमापतिधर लक्ष्मणसेन के दरबार में थे जो 12वीं शती में हुए थे फिर उनकी रचना का उल्लेख दशरुपक में कैसे संभव है? जबकि दशरुपकार 10वीं शताब्दी मे वाक्पतिराज मुञ्ज के दरबार में हुआ करते थे। जो भी हो यह श्लोक रुद्रभट्ट रचित नहीं लगता। हो सकता है दशरुपककार से पहले कोई और रुद्र हुए हो और जिनकी ये रचना हों तिलकमञ्जरी के रचयिता धनपाल इसी समय के किसी रुद्र की चर्चा करते हैं, जो आगे कहेंगें।

रुद्रभट्ट के दशरुपककार से पूर्ववर्ती होने की दो और संभावनाएं बनती हैं— प्रथम धनिक ने अपनी दशरुपक की अब लोक व्याख्या में अनामतः रुद्रट का पद्य उद्धृत किया है।[39] अवलोक

रसनाद्रसत्वमेतेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तत्प्रकामस्तीति तेऽपि रसाः।।

काव्या 12/4

इसकी तुलना रुद्रभट्ट के इस पद्य से कीजिए–

भावा एवातिसंपन्नाः प्रयान्ति रसताममी।
यथा द्रव्याणि भिन्नानि मधुरादि रसात्मताम्।।

शृ0ति0 1/16

आगे धनिक लिखते हैं–

"इत्यादिना रसान्तराणामत्यन्यैरभ्युपगतत्वात् स्थानियोऽप्यन्ये कल्पिता इत्यवधारणानुपपत्ति"

इत्यादि मे अन्यैः यह बहुवचनान्त पद कदाचित् रुद्रट के साथ साथ रुद्रभट्ट को भी सङ्केतित हो।

दूसरा प्रमाण यह देते हैं कि एक किन्हीं "कालिदास" द्वारा रचित "शृङ्गारतिलक"[40] नाम की एक छोटी सी कृति प्राप्त होती है । इसके रचनाकाल व रचयिता के बारे में विद्वानों मे मतभेद है। इसके एक पद्य "इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन" को धनिक ने अपनी अवलोक टीका में स्थान दिया है।[41] अतः हो सकता है ये दशरुपकार से पूर्ववर्ती रचना हो। इसी शृङ्गारतिलक में रुद्रभट्ट की शृङ्गारतिलक से एक पद्य "गाढ़ालिङ्गन पीडितं स्तनतटं" उद्धृत है अतः रुद्रभट्ट इनसे व दशरुपककार से पूर्ववर्ती हो सकते हैं। अब तक प्राप्त प्रमाणों के आधार पर हम रुद्रभट्ट को उनके उदाहरणों का मौलिक रचयिता कह सकते हैं। जबकि ये तथाकथित कालिदास नामधारी कवि उपजीवी मालूम होते हैं। इन्होंने एक पद्य "कोपस्त्वया हृदिकृतं" को अमरुशतक से जैसे का तैसा ले लिया है। इनकी 31 पद्यों की यह रचना शृङ्गारिक श्लोकों का सङ्कलन मात्र मालूम होती है जिनमें कुछ पद्य कवि के

स्वरचित भी हो सकते हैं। हो सकता है कि "इन्दीवरेण नयनं" इत्यादि श्लोक भी इनका स्वरचित न हो फिर इनका दशरुपकार से पूर्ववर्तित्व भी सदिग्ध हो जायेगा।

धनपाल का प्रामाण्य

तिलकमञ्जरी के रचयिता धनपाल[42] भी किन्ही "रुद्र" का उल्लेख करते हैं जो "त्रैलोक्यसुन्दरीकथा" नामक ग्रन्थ के रचयिता है। तिलकमञ्जरी का श्लोक इस प्रकार है–

"स मदान्धकविध्वंसी रुद्रः कैर्नाभिनन्द्यते।
सुश्लिष्टललिता यस्य कथा त्रैलोक्यसुन्दरी।।"

धनपाल ने इनके पुत्र का भी उल्लेख किया है जो कर्दमराज के नाम से जाने जाते थे और अपनी सूक्तियों के लिए प्रसिद्ध थे।

सन्तु कर्दमराजस्य कथं हृद्या न सूक्तयः।
कविस्त्रैलोक्यसुन्दर्या यस्य प्रज्ञानिधिः पिता।।

अगर धनपाल के रुद्र हमारे ही रुद्र हैं तो इनकी स्थिति दशरुपककार (10वीं) से बहुत पहले होनी चाहिए क्योंकि धनपाल के अनुसार इनके पुत्र कर्दमराज भी पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके थे। यह बात हमारे इस निष्कर्ष की पुष्टि करती है कि रुद्रभट्ट रुद्रट के समकालीन तो नहीं लेकिन उनसे बहुत बाद के भी नहीं है। वे निश्चित ही नवीं शती के उत्तरार्ध या दशवीं के पूर्वार्ध में विद्यमान थे। "त्रिपुरवधादेव" के "त्रिपुरवध" के पहली और श्रृङ्गारतिलक को दूसरी रचना मान लेने पर "त्रैलौक्यसुन्दरीकथा" उनकी तीसरी रचना मानना उनके शैवत्व की दृष्टि से भी संगत लगता है।

यूरोपीय विद्वानों की मान्यता का निराकरण

जिन चार यूरोपीय विद्वानो आफ्ररेख्ट, वेबर पिशेल व ब्यूहलर ने रुद्रट व रुद्रभट्ट को अभिन्न प्रतिपादित किया था उनमे औफ्रेख्ट और पिशेल के तथ्यो का अन्यत्र भी खण्डन हो चुका है। अपने "सस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास" मे[43] डा० एस० के० डे लिखते हैं– "औफ्रेख्ट का यह सुझाव कि मम्मट, महिभट्ट नाम का विकृत रुप है, उसी प्रकार निराधार है जिस प्रकार रुद्रट रुद्रभट्ट का। इसी प्रकार से पिशेल ने "लिम्पतीव तमोऽङ्गानि" जो मृच्छकटिक से काव्यादर्श मे उद्धृत है, के आधार पर मृच्छकटिक को दण्डी की रचना बताया है, जो निराधार है।"[44]

श्रृङ्गारतिलकार रुद्रभट्ट[45] और रसकलिकाकार रुद्रभट्टः–,

श्रृङ्गारतिलककार रुद्रभट्ट की पहचान का सङ्कट इतना विकट था कि कुछ विद्वानों ने– जिनमें प्रतापरुद्रीय के रचयिता विद्यानाथ[46] प्रमुख हैं, "रुद्रभट्ट" इस नामसाम्य के कारण दोनों रचनाकारों व उनकी रचानाओं को अभिन्न समझ लिया। "रसकलिका" पर अपने शोध प्रबन्ध में दक्षिण भारतीय विदुषी डॉ कलपक्कम रामास्वामी (सम्प्रति श्रीमती कलपक्कम शङ्करनारायणन) ने इसका उल्लेख किया है।[47] विद्यानाथ, "श्रृङ्गारतिलक" और "रसकलिका" दोनों के रचनाकार का नाम "रुद्रभट्ट" होने के कारण दोनों को एक व्यक्ति समझने की भूल कर बैठते हैं और वे कुछ छन्दों को "श्रृङ्गारतिलक" के नाम से उद्धृत करते है जबकि वे वास्तव में "रसकलिका" के छन्द्र हैं। उदाहरणार्थ वे प्रतापरुद्रीय में लिखते हैं–

"तथा चोक्तं श्रृङ्गारतिलके–

आलम्बन गुणश्चैव तच्चेष्टासु तदलङ्कृतिः।
तटस्थश्चेति विज्ञेयश्चतुर्थोद्दीपनं क्रमः।।

(p.r. iv p-159)"

यह वस्तुतः रसकलिका का 41वां श्लोक है देखे पाद टिप्पणी

रसकलिका और शृङ्गारतिलक के रचयिताओ को भिन्न सिद्ध करना ज्यादा कठिन नही है । शृङ्गारतिलककार रुद्रभट्ट का सर्वप्रथम उल्लेख हेमचन्द्र (1088–1172) करते है। हेमचन्द्र संभवतः रुद्रभट्ट के नाम मे उत्पन्न भ्रम के कारण (पी0वी0 काणे का मत है कि रुद्रभट्ट और रुद्रट के नामो में भ्रम 1150 से पूर्व ही शुरु हो चुका था) उनके दो श्लोको को उद्धृत कर तथा उनके मगलाचरण में दोष दिखाकर भी रुद्रभट्ट का नामत उल्लेख नही करते अत. इससे उनकी स्थिति हेमचन्द्र से सौ दो सौ वर्ष पूर्व संभावित प्रतीत होती है जबकि रसकलिका के लेखक रुद्रभट्ट दक्षिण भारत में होयसल नरेश वीर–बल्लाल द्वितीय (1172–1220) के दरबार मे वर्तमान थे। डॉ0 नीलकण्ठ शास्त्री[48] अपने दक्षिण भारत के इतिहास में "जगन्नाथ विजयकाव्य"(कन्नड़) के रचनाकार रुद्रभट्ट का स्पष्ट उल्लेख करते हैं– उन्हीं के शब्दों में– "वैष्णव मत पर दक्षिण मे सबसे प्राचीन उल्लेखनीय लेखक था स्मार्त ब्राहमण रुद्रभट्ट, जो वीर बल्लाल (1172–1220) के शासनकाल में रहता था। उसकी जगन्नाथविजय विष्णुपुराण पर आधारित तथा कृष्ण के जीवन पर लिखित एक चम्पू हैं। इसमे बाणासुर के साथ युद्ध तक का विवरण दिया गया है।"

डॉ0 रामास्वामी ने "रसकलिका" के लेखक रुद्रभट्ट को ही "जगन्नाथविजयकाव्य" (कन्नड) का भी लेखक स्वीकार किया है। उन्हीं के शब्दों में

This Rudrabhatt has been identified with the author of the Kannad work "Jagannath Vijay"

अपनी "रसकलिका" में रुद्रभट्ट परमार राजा अर्जुनवर्मदेव और उनके मत्री मदन का उल्लेख करते है। ये अमरुशतक के टीकाकार के रुप में प्रसिद्ध है– उपर्युक्त श्लोक निम्न प्रकार से है–

राजन्नर्जुनदेवमूर्तिमदनत्वद्विप्रयोगानल

ज्वालाजालसमाकुला शशिमुखी पूर्णं सरो गाहते

अपनी जगन्नाथ विजय काव्य नामक कन्नड कृति में रुद्रभट्ट का कथन है कि उनके काव्य की प्रशंसा चन्द्रमौलि द्वारा की गई चन्द्रमौलि की पहचान होयसल नरेश वीरबल्लाल द्वितीय के मंत्री के रुप मे की गई है। डा0 रामास्वामी आगे लिखती हैं–

"In the Kannada work Jagannath Vijay by R.B., the authore of R K., it is stated that his work was appreciated by one Candramouli. This Candramouli may be identified with Candramouli, a minister in the court of VirBaallal-II, whose date is fixed as 1172-1220 A.D. (Hoysala's in Tamil country- 12th to 14th centary A. D. P.64)

If Parijatmanjari of Madan, the precepter of ArjunVerm dav is taken as continuing a historical reference the heroine "Sarva Kala" was the daughter of Hoysala king Virballal-II and the first wife of king Arjun Verma Dev of Permar Dynasty (History of Parmar Dynasty; P.P. 205 to 209)"

इस प्रकार ये रुद्रभट्ट[49] भी हमारे रुद्रभट्ट से न केवल भिन्न है अपितु इनमें परस्पर लगभग तीन सौ वर्षों का अन्तर है। इन्हें अभिन्न समझना पहचान की विडम्बना के सिवा और कुछ नहीं है।

एक प्रमाण के आधार पर हम यह संभावना कर सकते हैं कि रुद्रभट्ट कश्मीरवासी रहे हों। अपनी शृङ्गारतिलक के प्रथम परिच्छेद के उदाहरण पद्य (सं0 1/47) में तथा 1/48 में उन्होंने जो अन्तिम पंक्तियां दी है वे कश्मीर नरेश

राजा तुजीन के शासनकाल मे हुए चन्द्रक कवि (650 ई0) के श्लोको से ली है। चन्द्रक कवि की ख्याति कृष्णद्वैपायन व्यास के अंशावतार के रुप मे थी। उन्होने "लोकानन्द" नामक बौद्ध नाटक की रचना की है। चन्द्रक कवि और रुद्रभट्ट के श्लोक दृष्टव्य हैं–

प्रसादे वर्तस्व प्रगटय मुदं संन्त्यज रुषं।
प्रिये शुष्यन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः।
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं
न मुग्धे प्रत्येतं प्रभवति गतः कालहरिणः।।

–चन्द्रक कवि

विमुञ्चामु मानं सफलय वचः साधु सुहृदां।
मुधा संतापेन ग्लपयसि किमङ्गं स्मरभुवा।
प्रियं पादप्रान्तप्रणतमधुना मानय भृशं।
न मुग्धे प्रत्येतं प्रभवति गतः कालहरिणः।।

रुद्रभट्ट श्रृ.ति. 1/43

मम्मट ने इसे प्रतिकूलविभावादिवर्णन रुप छठा रसदोष कहा है।

प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः कनकाकृतिः
प्रभवति ततो ध्वान्तक्षोदक्षमः क्षणदामुखे।
तदनुविरहोत्तापात्तन्वी कपोलतलद्युतिः
सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः।।

चन्द्रककवेः

प्रणयिनि भृशं तस्मिन्मानं मनस्विनि मा कृथा
किमपरमितो युक्ता युक्तैर्विना हयमुनात्तव।
अयमपि भवेत् संप्रत्येवक्षयानलसंनिभः
सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ।।

रुद्रभट्टश्रृति (1/44)

ऐसा प्रतीत होता है कि श्लोक पादपूर्ति के लिए किसी नरेश के दरबार मे रखे गए थे और उन पर ये अलग अलग कवियो ने कविता लिखी हो। अगर इस तथ्य को मानें तब हमें रुद्रभट्ट को 650 ई0 मे हुए चन्द्रक कवि का समकालीन मानना होगा। काव्यमाला संस्करण में पाद टिप्पणी मे कहा भी गया है कि ये रुद्रभट्ट पञ्चतंत्र के रचयिता (जो सांतवी सदी से प्राचीन नही हैं) से पूर्व के हैं क्योकि पञ्चतंत्र के लब्धप्रणाश नामक चतुर्थ तन्त्र में रुद्रभट्ट का एक श्लोक "सार्धमनोरथशतैस्तव धूर्तकान्ता" आया है। (कुट्टनीमत नाम ग्रन्थ की "पर्यङ्कस्वास्तरण." इत्यादि आर्या पञ्चतन्त्र के प्रथम तन्त्र में दृष्टव्य है जो पञ्चतन्त्रकार विष्णु शर्मा को सातवी से पहले न होने का साक्ष्य प्रस्तुत करती है) इस संभावना को नकार भी दे तो हो सकता है बाद मे कश्मीर के ही किसी राजदरबार में चन्द्रक कवि के श्लोको को पादपूर्त्यर्थ रखा गया हो। रुद्रभट्ट के कश्मीरी होने की यह एक संभावना है।

वस्तुतः संस्कृत साहित्य में एक अलिखित परम्परा सी विद्वानों में रही है कि लेखक अपनी कृति में सामान्यतः अपना नामोल्लेख नहीं करते। नैषधीयचरित के रचयिता श्री हर्ष जैसे कुछ ही अपवादस्वरुप स्वनामोल्लेख अपनी कृति में प्रस्तुत करते हैं। रुद्रभट्ट उनमें ही एक हैं। उन्होंने ग्रन्थान्त में अन्तिम चार पद्य अपने लिए रख छोड़े हैं इनमें श्लेष के माध्यम से वे स्वयं अपना नाम, ग्रन्थनाम, ग्रन्थ की विषयवस्तु के साथ साथ अपनी पूर्वकृति का प्रत्यक्ष उल्लेख करते हैं।

वही दूसरी ओर रुद्रट इस प्रवृत्ति से पूर्णतया विमुख हैं। वे अपने काव्यालङ्कार मे अपना प्रत्यक्ष[50] नामोल्लेख तक नही करते। एक ही लेखक अपनी दो कृतियो मे भिन्न परम्परा का अनुसरण करे यह असंगत बात है। और यह उससे भी आश्यर्चजनक कि रुद्रट श्रृ.ति जैसी लघु कृति मे अपने नामोल्लेख का दर्प करे और काव्यालङ्कार जैसी विशाल कृति मे प्रत्यक्ष नामोल्लेख तक न करे। अतएव रुद्रभट्ट रुद्रट से निश्चयतः भिन्न हैं। रसकलिका के रचनाकार रुद्रभट्ट की भी पहचान हो चुकी है, वे 12 वीं के अन्त तथा 13वीं के प्रारंभ मे हुए थे अतः शृङ्गारतिलककार से इनके तादात्म्य की दूर दूर तक कहीं संभावना नही बनती। इस प्रकार शृङ्गारतिलककार रुद्रभट्ट की स्वतंत्र स्थिति सिद्ध होती है। यद्यपि समय चक्र के प्रवाह में उनका स्पष्ट बिम्ब नहीं बना है किन्तु इतने भर से उनके अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता है।

चूंकि हेमचन्द्र ने प्रथमत. रुद्रभट्ट को उदधृत किया है अत इतना तो निश्चयतः कहा जा सकता है कि रुद्रभट्ट हेमचन्द्र (1088–1172 ई0) से कम से कम 100–200 वर्ष प्राचीन हैं क्योंकि हेमचन्द्र के समय तक भी नामों मे भ्रम (रुद्रट और रुद्रभट्ट के) इतना अधिक हो चुका था कि उन्होने रुद्रभट्ट के ग्रन्थ से अनामतः ही उद्धरण दिए (शृङ्गारी गिरिजानने इत्यादि में दोष–दर्शनादि के अवसर पर भी) इससे इनका सौ दो सौ वर्ष पूर्व होना विस्मयकारी न होगा। अब यदि हम हेमचन्द्र के रचनाकार्य को 1115–20 में भी मानें तो दो सौ वर्ष पूर्व अगर यह कहे तो उनकी (रुद्रभट्ट की) स्थिति 920 ई0 के आस पास बन सकती है। किन्तु रुद्रभट्ट आनन्दवर्धन से परिचित नहीं जान पड़ते।[51] अतः कोई आश्चर्य नहीं है कि इनकी स्थिति आनन्दवर्धन से पूर्व अर्थात् 9वीं शती के प्रथम चरण में या आनन्दवर्धन (850 ई0) के आस पास निर्धारित की जा सके। चूंकि इनका रुद्रट से परवर्तित्व हम अनेक अवसरों पर सिद्ध कर चुके हैं अतः ये रुद्रट के

बाद या बहुत सभव है, आनन्द वर्धन के आस–पास (जबकि आनन्दवर्धन के सिद्धान्तो का इतना प्रचार–प्रसार न हुआ रहा हो) विद्यमान रहे होगे। रुद्रभट्ट और रुद्रट के नामो में व उनके ग्रन्थो के कर्तृत्य के बारे मे (पी० वी० काणे के मत में–सुभाषितो द्वारा) जो इतना भ्रम फैला उससे यही प्रतीत होता है कि इनके समय मे बहुत अन्तर नहीं रहा होगा और स्थानों मे भी। वैसे भी अपने शैवत्व की परम्परा के अनुसार रुद्रभट्ट भी कश्मीरी प्रतीत होते है। एक और तर्क उनके इस समय में होने की पुष्टि करता है जो उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम "शृङ्गारतिलकाख्य काव्यालङ्कार" रखा, क्योकि उस समय चक्र में ही काव्यालङ्कार इत्यादि नाम रखने की परम्परा थी। बाद मे इस परम्परा का ह्रास होता गया। ये हो सकता है कि इनका ग्रन्थ लम्बे समय तक उपेक्षित या कहीं अज्ञात पडा रहा हो और फिर अचानक किसी को इसे प्राप्त होने पर, रुद्रट काव्यालङ्कार के 12–13,14 अध्यायो से अत्यधिक साम्य प्रतीत होने के कारण तथा नामो मे साम्य के कारण (रुद्रटभट्ट और रुद्र भट्ट) इसे (शृङ्गारतिलक को) रुद्रट की ही रचना समझ लिया गया हो। बाद में विद्वानों ने पर्यालोचन के उपरान्त इसके रचयिता का नाम रुद्र या रुद्रभट्ट स्थिर भी कर दिया हो तथापि नामो में साम्य के कारण भ्रम की यह परम्परा ही चल पडी हो, या फिर इस (नाम–निश्चय) से कुछ विद्वान सहमत न रहे हो और उन्होंने इसे रुद्रटरचित ही मानना जारी रखा हो। ये सभी सिर्फ अनुमान किए जा सकते है। प्रमाणो के अभाव में निश्चित रुप से कुछ भी कहना शक्य नहीं प्रतीत होता। लेकिन समस्त परिस्थितियां इसी तथ्य को इंगित करती हैं कि रुद्रट और रुद्रभट्ट में कर्तृत्व की भांति समय का भी बहुत अन्तर नहीं होना चाहिए। ये रुद्रट के बाद और हेमचन्द्र से कम से कम सौ दो सौ वर्ष पूर्व अवश्य ही विद्यमान थे। जब इनकी कृति को विद्वत्समाज ने इतना

गौरव प्रदान किया है तब सस्कृत कवियों की श्रृङ्खला में इन्हे भी एक स्वंतंत्र व रससिद्ध कवीश्वर का स्थान अवश्य ही मिलना चाहिए।

1- With regard to the identity of Rudrata, there is a great deal of controversy; some scholars (Pischel, Weber, Aufrecht and Buhler) will identify him with 'Rudrabhatta' of 'Sringartilak'; yet others (Pt Durga Pras, Jacobi, P.V. Kane and S.K. De) will consider him as a different person and assign to Rudrabhatta a period later than Rudrat's because they think that Rudrabhatta has borrowed many definitions from Rudrata's Kavyalamkara. The present work contributes materially to this controversy by supplying several verses-

संख्येयं रुद्रट्टाचार्यैरुपभोगाय दर्शिता। P-95-9

इति द्विषन्तमुद्दिश्य प्राह श्री रुद्रटः कविः। P-95-20

Under the name of Rudratacharya and Rudrat kabi with regard to the name of this author there is no unanimous opinion. In Same works he is called as Rudra and in others as Rudrat. In some places the Kabyalankara is attributed to Rudrabhatta, and in others, again the Sringartilak is attributed to Rudrats, more ever there is a remarkable similarity between the version of the Sringartilak and those of the four chapters dealing with Rasa in the kayalamkara and as a matter of fact to a careful observer the former appears to be a word to word copy with the difference of meter only It is however absurd, to think that Rubrabhatta himself being a great authority on Rasa and a poet of a very high standard and also a philosopher should stoop so low as to barrow whole sale from the work of his name sake Rudrata. It we believe in the testimony of 'Sardatanaya' and Singbhupal (Rasarnava Sudhakara) who generally followed the former we have no other alternative than top hold that Rudrata and Rudrabhatta represent one and the same person.

Sardatanaya refers to the views of Rudrata on two important points: first, with regard to the number of heroens, which according to him was 384; and secondly with regard to the nature of love that exists between the courtesan and her lover. The actual passage quoted by Sardatanaya in the

course of discussion as eminating from Rudratacharya and Rudrat Kavi are found not in Rudratas work but in Rudrabhattas 'Sringartilak'. That Rudrat was the author of these two peculiar views, is also born out by the Rasarnava Sudhakara.

The Kayalamkara of Rudrata however contains exactly a portion with correspondence to certain passage in the Sringartilak dealing with the number of heroen's and the nature of courtesans (wide up 154-155). The editor of the kayalamkara however, for reasons best known to him, regards this portion as an interpolation. But there is enough reason to show that the position considered by the editor as an interpolation was entirely misconceived. The Sringartilak which closely follows the kavyalamkar also not omit the interpolation formed part of the original work Secondly Bhayrakashan quotes and rewinds the portion in question definitely attributes the views to Rudrata. This with regard to genuineness of the passages and views incalculated there is there can not be any question. And because the same views are promulgated in both the Sringartilak and the Kavyalamkara, it is all the more reasonable to regard the promulgaters of the same views to be one and the same person.

Three arguments are generally levalled against the identification of Rudrat with Rudrabhatta. Firstly it is waged that Rudra and Rudrata must be two different persons because they held different views with regard to the number of the different Rasa's. According to 'Rudra' it is restricted to nine while according to Rudrata it is ten. But this anomaly can be easily explained. The two author held the view that all the vyabhicharibhava's could be developed into the form of Rasa's and therefore there exact number is the least significance. The difference of number is due, most probably, to the same author's changed views during the period intermediate between the writing of the fore works is question.

Secondly it is also urged that Rudra and Rudrat must be different opinions with regard to the number of Vrittis, Rudra considers the number as four namely Kaishiki etc, while Rudrata acknowledges five Madhura etc., and as such the two can not be the same. This argument does not seem to deserve much respect because the Vritti's Kaishiki etc are known as Arthvrittiyan there being no tangible connection between the two different kinds of two Vritti's.

Thirdly it is contended that as there is difference in their descriptions of the Nayiks's, the two authors can not

represent the same person. On this point the readers who are interested in this interpolated portions marked out by the editor of the Kayalamkara as genuine parts of the original work, when the work is read as such there will remain no more difference between the two works attributed to Rudra and Rudrat.

The remarkable coincidence of thought and views inculcated in the two works namely the Kavyalankara and the Sringarstilak leads us to believe that Rudrat. the author of Kavayalankar worte another work later on with greater fullness of detail and a great verity of illustrations in the form of the Sringartilak; and that there are not weighty grounds existing at the present moment to dispute there identity.

(GAEKWADS ORIENTAL SERIES- भावप्रकाशन– शारदातनय Sited with an introduction and indices by Yadugiri Vatiraja Swami of Melkot and K.S. Ramaswamy Shastri Siromani Srouta Pandit, Oriental Institute Baroda, 1930. Oriental Institute Baroda- Page 6P, Introduction)

2. दृष्टव्य – 14/12 काव्या०

3. 14/13 काव्यां०

4. 14/14 काव्या०

5. 2/40 – शृ० ति०

5. 2/41 – शृ० ति०

7 2/42 – शृ0 ति0

8 14/11 काव्या0

9 2/67 – शृ0 ति0

10 शृ0 ति0– 128–29–30

11 काव्या0 – 14/18

12 शृ0 ति0 – 2/53

13 शृ0 ति0 – 2/59

14 शृ0 ति0 – 2/28–29–30

15 काव्या0 11/1–2 तथा 3/81– श्रृति0

16 शृ0 ति0 1/19

17 शृ0 ति0 3/92

18. काव्या0 14/31

19 शृ0 ति0 2/70

20 शृ0 ति0 2/71

21. काव्या0 14/33

22. शृ0 ति0 2/83

23 शृ0 ति0 2/77

24 शृ0 ति0 2/78

25. शृ0 ति0 2/79

26. शृ0 ति0 2/80–81

27. शृ0 ति0 2/82

28. शृ0 ति0 2/31

29. शृ0 ति0 2/32

30. शृ0 ति0 2/102

31. शृ0 ति0 2/103

32. शृ0 ति0 2/104

33 काव्या0 14/36

34 शृ0 ति0 2/41–42

35 शृ0 ति0 2/32–33

36 काव्या0– 14/12–13–14

37. संस्कृत साहित्य का इतिहास द्वारा– ए0 बी0 कीथ– p–263

38 जयदेव का गीतगोविन्द–प्रथर्म सर्ग– 4 था श्लोक

39 दशरुपक– iv/43

40 गोकुलदास संस्कृत ग्रन्थ माला का 55 वा पुष्प। हिन्दी व्याख्याकार डा0 कपिल देव गिरि। प्रकाशक चौखम्भा ओरियण्टीलया वाराणसी, द्वितीय सस्करण 1985।

41 दशरुपक– iv /69 की व्याख्या मे श्लोक स0–3/8

42. धनपाल 973 ई0 के लगभग हुए ये धनिक और धनञ्जय के समकालीन थे।

43. हिन्दी अनुवाद मायाराम शर्मा–सस्करण 1988 p– 136– पाद टिप्पणी

44. ध्यातव्य है कि दण्डी ने अपने लगभग सभी उद्धरणो की रचना स्वय की है– जबकि "लिम्पतीव" को मृच्छकटिक से उद्धृत किया है।

45 रसकलिका (सस्कृत) तथा "जगन्नाथविजय काव्य" (कन्नड) के रचयिता। इनका नाम भी रुद्रभट्ट था और ये दक्षिण भारतीय ब्राहमण थे। ये अर्जुनवर्मदेव के श्वसुर होयसल नरेश वीरबल्लाल II के (1172–1220) दरबार में वर्तमान थे।

46. विद्यानाथ का समय 13वीं शती के अन्त तथा 14वीं के आरंभ की मध्यावधि तक डा0 डे ने माना है। संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास– डॉ एस0 के0 डे0

p & 193

47. "Rudra bhatt the author of Shringartilak is often confused by Rudrat, the author of Kavyalamkara by later writers. In edition he is also confused with Rudrabhatt the author of Raskalika by later writers like vidyanath, the author of

prataprudriya. Vidyanath confusing thease two writers both bearing the name "Rudrabhatta" attributes some of the verses wrongly to Shringartilak though they are actually found in Raskalika and not ın Shringartilak a few examples. .

48 दक्षिण भारत का इतिहास– डॉ0 नीलकण्ठ शास्त्री – पेज 349, हिन्दी सस्करण – द्वारा बिहार हिन्द्री ग्रन्थ अकादमी – पञ्चम सस्करण जनवरी 1996–

49. इन्होंने अनामत. श्रृ0ति0 से एक श्लोक ईर्ष्या कुलस्त्रीषु (1/128 s t) उद्धृत किया है। रसकलिका में।

50 काव्यालङ्कार iv/13 की व्याख्या करते समय नमिसाधु की टिप्पणी है कि रुद्रट ने अपने इस पद्य मे अपना परोक्ष उल्लेख किया है।

51. डॉ0 एस0के0 डे ने अपने संस्कृत काव्य शास्त्र के इतिहास मे (पृ0 79 पर) रुद्रट की तिथि का निर्णय करते समय इसी तर्क का सहारा लिया है।

रुद्रभट्ट विरचित शृङ्गार तिलक का

आलोचनात्मक अध्ययन

शोध प्रबन्ध

द्वितीय अध्याय

रस विवेचन

ग्रन्थ के आरम्भ मे ही आचार्य इस बात का स्पष्ट उल्लेख करते है कि भरतादि ने प्राय रस की स्थिति का निरुपण नाट्य के सदर्भ मे किया है जबकि वे काव्य मे रस की स्थिति का विवेचन करने जा रहे है। (शृति. 1/5) उनका कहना है कि जिस प्रकार से चन्द्रमा के बिना रात्रि की शोभा नहीं होती, पति के बिना स्त्री की, तथा त्याग (दान) के बिना लक्ष्मी की शोभा नही होती उसी प्रकार से रस के बिना वाणी की शोभा नही होती, (1/6) अत कवि को चाहिये कि वह यत्नपूर्वक काव्य में रस का आधान करे अन्यथा नीरस काव्य विद्वानो की गोष्ठी मे उद्वेग (ऊब, उदासी) का कारण बनता है।

जिस समय भरत ने रस–विवेचन किया था तब नाट्य और काव्य वस्तुत· समानार्थी थे। अधिकाश विद्वान काव्य के संदर्भ मे रस के प्रथम प्रयोग का श्रेय रुद्रट को देते है। पी0वी0 काणे का भी कहना है कि काव्यालङ्कार के जगत में रस के प्रथम प्रयोगकर्ता रुद्रट थे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सस्कृत के पूर्व विभागाध्यक्ष डा0 सुरेश चन्द्र पाण्डेय ने एक शोध मे यह पाया कि रुद्रट से बहुत पहले जैन ग्रन्थ अनुयोगद्वार सूत्र में "कव्वरसा." "काव्य के रसो" का उल्लेख मिलता है। यह ग्रन्थ जिनागम ग्रन्थमाला में ग्रन्थाङ्क 28 पर छपा है। इसमें पेज 262 पर इस प्रकार उल्लेख है–

"से किं त नवनामे।

नवनामे णव कव्वरसा पण्णन्ता।"

इसी प्रकार एक अन्य छन्द में –

"ए ए णव कव्वरसा बतीसादोसविहिसमुप्पण्णा"

उल्लेखनीय है कि रुद्रट ने इतना स्पष्ट उद्घोष काव्य मे रसो का नहीं किया जितना स्पष्ट शब्दों में रुद्रभट्ट ने यह घोषणा की। यद्यपि रुद्रभट्ट की

कारिका 1/8 रुद्रट काव्यालङ्कार 12/2 की अनुकृति जान पडती है। किन्तु 'प्रायो नाट्य प्रति प्रोक्ता' 1/5 यह रुद्रभट्ट की स्वीया अवधारणा है। इसी प्रकार रसों की संख्या व नामोल्लेख मे वे रुद्रट को पूर्णतया विस्मृत कर देते है।

<u>भरत का प्रभाव</u>

रुद्रभट्ट पूर्ववर्ती आचार्यो मे केवल भरत का ही नामोल्लेख करते है। आदि मे अन्य आचार्यो को समझना चाहिये। रसो के नामोल्लेख मे वे भरत नाट्यशास्त्र की 6/16 की कारिका कि लगभग वैसे ही अनुकृति कर चतुराई से उसे अपने प्रयोजन के अनुरुप ढाल लेते है। देखे –

शृङ्गार हास्य करुणा रौद्रवीर–भयानकाः।

बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसास्मृताः।।

नाशा. 6/16

शृङ्गार हास्य करुणा रौद्रवीर–भयानकाः।

बीभत्साद्भुतशान्ताश्च काव्ये नवरसाः स्मृता।।

शृ.ति. 1/9

इस प्रकार भरत की कारिका को उसी क्रम में रखकर 'सञ्ज्ञौ' की जगह 'शान्ताश्च' लिखकर तथा अष्टौ नाट्ये की जगह 'काव्ये नव' लिख दिया। एक दृष्टि में यह कारिका भरत की पूर्ण अनुकृति जान पडती है या फिर अगर और स्पष्ट कहें तो रुद्र का यह अनुकरण प्रयास भरत के समीप कम और काव्यालङ्कार सारसंग्रह के रचयिता उद्भट के अधिक समीप मालूम पडता है।

उद्भट ने अपने ग्रन्थ मे शान्त सहित नौ रसों की सत्ता नाट्य मे स्वीकार की है। देखे –

श्रृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीर भयानका.।

बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसास्मृताः।।

काव्यालङ्कारसारसंग्रह।

रुद्रभट्ट ने इसे पूरा का पूरा उद्ग्रहीत कर लिया है। सिर्फ "नाट्ये" की जगह 'काव्ये' कहकर काव्य मे नौ रसो की सत्ता बताने मे वे अग्रगण्य अवश्य हो गये है। उन्होने लिखा भी है–

प्रायो नाट्यं प्रति प्रोक्ता भरताद्यै रसस्थितिः।

यथामति मयाप्येषा काव्यं प्रति निगद्यते।।

शृति. 1/5

सिर्फ इतना ही नहीं अपितु सर्वत्र रुद्रट का अनुकरण करते हुये भी यहा रसो के स्थायिभाव के प्रसंग मे वे उद्भट की कारिका पूरी तरह से आत्मसात् कर लेते हैं –

द्रष्टव्य है –

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहों भयं तथा।

जुगुप्साविस्मयशमाः स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः।।

उद्भट्–काव्यालङ्कारसारसंग्रह

रुद्रभट्ट की 1/10 वी कारिका शब्दशः इसकी अनुकृति है। यद्यंपि इन स्थायी भावों के विस्तार से वर्णन के प्रसङ्ग में वे शान्त के स्थायी भाव शम पर जोर नहीं देते अपितु रुद्रट की शब्दावली पर उतर आते हैं –

सम्यग्ज्ञानोद्भवः शान्तः समत्वात्सर्वजन्तुषु।

गतेच्छो नायकस्तत्र मोहरागपरिक्षयात्।।

शृ.ति. –3/31

ऐसा ही स्थायी भावो के क्रम में भी अनुकरण किया गया है।

शान्त रस की मान्यता

शान्तरस की स्थिति के विषय मे अति प्राचीनकाल से विद्वानों में मतभेद चला आ रहा हे। इसका कारण यह है कि भरत ने 'अष्टौ नाट्ये रसा· स्मृता·' लिखकर यह स्पष्ट नही किया कि ये आठ भेद सिर्फ नाट्य मे ही होगें या फिर काव्य में भी। यदि आठ रसो की बाध्यता केवल नाटको के लिये हो तो काव्य मे आठ से अधिक रस हो सकते हैं। जैसा कि उत्तरोत्तर रसो की सख्या मे वृद्धि से जान पडता है कि विद्वानो ने काव्य को इस बाध्यता से अलिखित तौर पर मुक्त माना। भरत की इसी "अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृता·" कारिका के आधार पर जहा एक ओर महाकवि कालिदास, अमरसिंह, भामह और दण्डी आदि ने नाटक के आठ रसों का उल्लेख किया है वहीं दूसरी ओर उद्भट, आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने स्पष्ट रूप से शान्त रस का प्रतिपादन किया है। बडौदा से प्रकाशित, "अभिनव भारती" व्याख्या से युक्त भरत नाट्य शास्त्र के द्वितीय संस्करण के सम्पादक श्री रामास्वामी शास्त्री शिरोमणि ने लिखा है कि शान्त रस की स्थापना सबसे पहले भरत नाट्यशास्त्र के टीकाकार उद्भट ने अपने ग्रन्थ "काव्यालङ्कारसंग्रह" नामक ग्रन्थ मे की है उसके बाद आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त आदि ने उनका समर्थन किया है । इनके मतानुससार (अधिकांश विद्वानों का यह मत है) उद्भट से पहले शान्त रस की कोई सत्ता नहीं मानी जाती थी। भरत नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय मे भी शान्त रस का वर्णन पाया जाता है, परन्तु उसके विरोध में उक्त

सम्पादक महोदय का मत है कि वह प्रक्षिप्त है, या बाद को बढाया गया है । इस अंश को प्रक्षिप्त मानने के उन्होने दो हेतु दिए हैं। पहला हेतु तो यह है कि भरत मुनि ने पहले आठ ही रसों का उल्लेख किया है। इस प्रकार बाद मे नवम् रस का वर्णन उनके ग्रन्थ मे नही होना चाहिए था। नाट्यशास्त्र के दो संस्करण मिलते है (1) निर्णय सागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित, जिसमें 37 अध्याय हैं, तथा (2) चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी से प्रकाशित जिसमें 36 अध्याय हैं। निर्णय सागर प्रेस से मुद्रित प्रति में शान्त रस का पृथक वर्णन है तथा शान्त रस को मूल प्रकृति माना गया है। इसी से अन्य सभी रसो का जन्म व इसी में लय स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत "चौखम्भा संस्कृत सीरीज" से प्रकाशित नाट्यशास्त्र में यह समग्र प्रसङ्ग उपलब्ध नहीं । इसलिए वे इसको प्रक्षिप्त मानते हैं और शान्त रस की सत्ता न मानने वाले पक्ष के समर्थक हैं । वस्तुत प्रक्षिप्त अश की सच्चाई यह कि नाट्यशास्त्र की केवल एक प्रति मे यह प्रकरण प्राप्त होता है । उसी के अनुसार गायकवाड सस्करण में यह प्रकरण कोष्ठक में दिया गया है और इस प्रकरण में आये हुए श्लोको पर संख्या भी नही पडी है। अतः इस अश को प्रक्षिप्त माना जाता है, किन्तु अभिनव–गुप्त ने इस प्रकरण को नाट्यशास्त्र का अंश मानकर इस पर अभिनव–भारती नामक व्याख्या लिखी है । कुछ आचार्य में शान्त रस के सबसे प्रबल विरोधी धनञ्जय और धनिक हैं। "दशरुपक" तथा उसकी टीका दोनो में बड़ी प्रौढता के साथ शान्त रस का खण्डन किया गया है। शान्त रस को नाट्य में स्थान न दिये जाने का कारण उसका अनभिनेयत्व है । शान्तरस निवृत्ति प्रधान है। अभिनव में प्रवृत्ति का प्राधान्य होता है । निवृत्ति का अभिनय नहीं किया जा सकता है इस लिए अभिनय में उपयोगी न होने से अभिनयप्रधान नाट्य में शान्तरस को स्थान नहीं दिया जांता

है। दशरुपककार[1] का कथन है कि शान्त रस को अथवा उसके स्थायिभाव शम को स्थायिभाव मानने में कई प्रकार के मतभेद पाये जाते है। उनमें एक मत यह है कि भरतमुनि ने उसके अनुभाव आदि का वर्णन नही किया है तथा उसका लक्षण नही किया है अत शान्तरस नहीं है । दूसरा मत यह है कि वास्तव मे शान्त रस बन ही नही सकता है, क्योकि अनादिकाल से चले आये राग द्वेष के सस्कारो का सर्वथा नाश नही किया सकता है। इसलिए निर्वेदरुप स्थायिभाव तथा शान्त रस का उपपादन नहीं किया जा सकता है । तीसरे विचारको का मत है कि वीर, वीभत्स आदि रसों मे उसका अन्तर्भाव किया जा सकता है । इन तीन मतो के उल्लेख के बाद ग्रन्थकार कहते है इनमें कोई मत भी ठीक हो, हमे उसका विचार नही करना है। हमारा कहना तो यह है कि नाट्य मे शम को स्थायिभाव नहीं माना जा सकता, क्योकि समस्त व्यापारो के निवृत्ति रुप शम का अभिनय नही किया जा सकता है, इसलिए अभिनयप्रधान नाट्य मे शान्तरस को स्थान नही दिया जा सकता है कुछ लोंगो का कथन है कि यदि नाटक मे शान्त रस का अभिनय नही किया जा सकता है इसलिए अभिनयप्रधान नाट्य में शान्तरस को स्थान नहीं दिया जा सकता है । कुछ लोगों का कथन है कि यदि नाटक में शान्त रस का अभिनय नही हो सकता है तो शान्त रस प्रधान नागानन्द आदि नाटकों की रचना कैसे हुई? उसका उत्तर दशकरुपककार ने यह दिया है कि नागानन्द मे शान्त रस मानना उचित नही है, क्योकि उस में नायक का मलयवती के प्रति अनुराग का वर्णन सारे नाटक में पाया जाता है और अन्त मे उसको विद्याधरो के चक्रवर्ती राजा होने का अवसर प्राप्त होता है, इसलिए नागानन्द का मुख्य रस शान्तरस नहीं है । अपितु दयावीर का उत्साह उसका स्थायिभाव है और वीर रस की उसमें प्रधानता है। वीर रस केवल युद्ध प्रधान ही

नही है, उसका स्थायिभाव उत्साह है। वह उत्साह जैसे युद्ध के लिए हो सकता है उसी प्रकार दया और धर्म के प्रति भी हो सकता है। इसलिए नागानन्द मे दयावीर प्रधान रस है ,शान्त रस नही ।

जहा तक हमारे ग्रन्थकार की शान्त रस सम्बन्धी मान्यता का प्रश्न है, रुद्रभट्ट ने उद्भट ,अभिनवगुप्त रुद्रट व आनन्दवर्धन की भाति शान्त को नवा रस स्वीकार किया है और शम को उसका स्थायिभाव माना है। यद्यपि 3/31 मे उसे सम्यग्ज्ञानोद्भव कहा है जो पूर्णरुपेण रुद्रट का अनुसरण है। रुद्रट ने तो शान्त रस के अनुभाव भी दिये है –

जन्म–जरामरणाादित्रासो वैरस्यवासनाविषये ।

सुखदुखयोरनिच्छाद्वेषाविति तत्र जायन्ते।।

15/16 काव्या0

रुद्रभट्ट भी शान्तरस के लगभग इसी प्रकार के अनुभाव बताते हैं।–

निरालम्ब मनोऽन्यत्र बाढ़मात्मनि तिष्ठति।

सुखे नेच्छा तथा दुःखेऽप्युद्वेगो नात्र जायते।।

शृति., 3/33

इसी प्रकार हम पाते है कि हमारे आचार्य शान्त रस के पोषक हैं। दशरुपककार के शान्त रस के विरोध का यहां अवकाश ही नहीं है क्योंकि दशरुपकककार सिर्फ नाट्य में शान्त रस का विरोध करते है, वो भी केवल इस लिए, क्योकि इसका अभिनय नहीं किया जा सकता जबकि रुद्रभट्ट इसका प्रतिपादन स्पष्ट तौर पर काव्य में कर रहे है।[2] जहां तक प्रश्न इस बात का है कि उद्भट से पूर्व शान्त रस की सत्ता नहीं थी तो भरत नाट्यशास्त्र मे शान्तरस का प्रसंग भले ही प्रक्षिप्त माना जाता हो किन्तु जैन ग्रन्थ अनुयोगद्वार सूत्र ने

तत्व मानता था। ऐसे ग्रन्थकार एकमात्र रस पर ही ध्यान देते रहे और उन्होने एकमात्र इसी के आधार पर काव्य–पद्धति का निर्माण किया। इन रसो में सामान्यतया श्रृङ्गार रस ही सस्कृतकाव्य और नाटक का प्रधान विषय रहा है । चूँकि यह विशेष काव्यात्मक भाव सार्वदेशिक संवेदन का विषय है अतः इन लेखकों ने इस रस के सभी पहलुओं का विशद विवेचन किया है। परिणामस्वरुप हमें श्रृङ्गारप्रधान रीति–ग्रन्थो की एक श्रृङ्खला प्राप्त होती है । इनमे से सर्वप्रथम ज्ञात और सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ रुद्रभट्ट लिखित " श्रृङ्गारतिलक" है । डा० एस.के.डे. इसके पश्चात हमे इसी श्रृङ्खला के अन्य ग्रन्थों के बारे मे विस्तार से बताते हैं जैसे भोज लिखित श्रृङ्गारप्रकाश, शारदातनय का भावप्रकाशन, शिंगभूपाल का रसार्णवसुधाकर तथा भानुदत्त की रसमजरी व रसतरंगिणी, तथा अन्त मे रुपगोस्वामी रचित उज्ज्वलनीलमणि। इस प्रकार हम पाते है श्रृङ्गार प्रधान रीतिग्रन्थों की इस रस परम्परा में रुद्रभट्ट अग्रगण्य कवि है । पी०वी० काणे लिखते हैं कि Bharata;s view that the रस is the soul of poetry,was accepted by (Rudrabhatta) in the श्रृङ्गारतिलक। डा० आर० पिशेल ने भी कहा है श्रृङ्गारतिलक को पढने के बाद ही अमरुशतक के मुक्तको का भाव स्पष्ट हो पाता है।

नौ रस– रुद्रट ने भरत की ही भाति रसों को क्रम देते हुए उद्भट, आनन्दवर्धन व अभिनवगुप्त के समान शान्त सहित नौ रसो का प्रतिपादन किया है। अपने ग्रन्थ श्रृङ्गारतिलक के तीसरे अध्याय में परस्पर विपरीत रसों के वर्णन में (3/34) वे 'अष्टाविति रसा. पूर्वम' कहकर सन्देह अवश्य उत्पन्न करते है लेकिन इसका निराकरण इस बात से हो जाता है कि इस के ठीक पहले वे शान्त रस के

अनुभाव को बता चुके हैं और अब वे उन आठ रसों की चर्चा करने जा रहें है जो परस्पर विरोधी हैं। फिर भी अगर संदेह को अवकाश हो तो उनका मङ्गलाचरण का श्लोक देखा जा सकता है जिसमे उन्होने शिवस्तुति के ब्याज से नव रसो का क्रमश· शिव रुप मे वर्णन किया है।

रुद्रभट्ट रसो को निम्न क्रम से व्यवस्थित करते है शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और सबसे अन्त में शान्त। रसो के इस विशेष क्रम की व्याख्या अभिनवगुप्त ने अपनी रचना 'अभिनवभारती' में की है। वैज्ञानिक ढङ्ग से की है। विस्तार–भय से यहाँ उसका उल्लेख नही किया जा रहा है। रुद्रट इन्हीं रसो को भिन्न क्रम मे रखते हुये शान्त सहित नौ रसों के पश्चात् भी प्रेयान् नामक एक सर्वथा भिन्न रस का उल्लेख करते हुये रसों की सख्या दस तक पहुँचा देते है। वे शृङ्गार के पश्चात वीर, करुण, वीभत्स, भयानक, अद्भुत, हास्य, रौद्र, शान्त और प्रेयान् इस क्रम से दस रस गिनाते है। (काव्या. 12/3) इस क्रमभङ्ग का कोई औचित्य उनके टीकाकार नमिसाधु ने भी नहीं बताया है। इसका केवल यही कारण हो सकता है कि रुद्रट मूलतः अलङ्कारवादी आचार्य थे और रसो के क्रम जैसी सूक्ष्म बातों पर ध्यान देना उन्होने आवश्यक न समझा हो। हम देखते हैं कि उद्भट, अभिनवगुप्त तथा आचार्य मम्मट तक ने इस क्रम को जैसे का तैसा रखा।

रस संख्या विषयक मतभेद

रसों की संख्या के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। विद्वान रुद्रट के दस रसों तक ही संतुष्ट न हो सके, आगामी पीढी में भोज ने शान्त और प्रेयान् के अतिरिक्त उदात्त और उद्धत नामक दो और और रसों का उल्लेख कर रसों

की संख्या 12 तक पहुँचा दी। विश्वनाथ ने वत्सलता को स्थायी भाव मान कर वात्सल्य नामक रस का प्रतिपादन किया। हिन्दी कवियो मे सूर तथा तुलसी की रचनाओ मे इस रस का विशेष प्रभाव दिखलाई पडता है। छोटो के प्रति स्नेह इसका स्थायिभाव है। छोटे बालक आलम्बन विभाव, बालको की तोतली बोली, सौन्दर्य क्रीडा आदि उद्दीपन और स्नेह से गोद में ले लेना, आलिङ्गन चुम्बन आदि व्यभिचारिभाव है। इसी प्रकार से कुछ लोग भक्तिरस को भी अलग रस मानते है। इस का जन्म साहित्यिक क्षेत्र में न होकर धार्मिक क्षेत्र मे हुआ है। साहित्यशास्त्री इसे देवादिविषयक रति के रुप मे भाव कहते है न कि रस। किन्तु गौडीय वैष्णव उसे अलग रस ही नहीं अपितु सर्वश्रेष्ठ रस मानते है। रुपगोस्वामी ने अपने 'उज्ज्वल नीलमणि' मे इस सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित किया। उन्होने इस रस का वर्णन उज्ज्वल या मधुर रस के वैष्णव विचार में किया है। मधुर रस का वर्णन मुख्यतया भक्ति रस की एक अवस्था के रुप में किया गया है। वैष्णव अध्यात्मविद्या के अनुसार पाच रस होते है। जिन्हें मोटे रुप मे भक्ति प्राप्ति की पांच शाखायें कहा जाता है। ये है शांत, दास्य (सेवा या विनम्रता, इसे प्रीति भी कहा जाता है), सख्य (मित्रता या समानता, इसे प्रेय[3] भी कहते हैं) वात्सल्य और माधुर्य। प्रधान होने के कारण अन्तिम को उज्ज्वल रस या भक्ति रसराज भी कहते है। विश्वनाथ चक्रवर्ती[4] ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की हैं– **"शांत–प्रीति–प्रेयो–वात्सल्योज्ज्वल–नामसु मुख्येषु स इवोज्वला पर–पर्यायो भक्तिरसानां राजा मधुराख्यों रसः।"** (1/2)।

गौडीय वैष्णव देवताविषयक रति को तो साहित्यशास्त्रियों के समान भाव ही मानते हैं किन्तु श्रीकृष्ण देवता नहीं अपितु साक्षात् भगवान हैं, इसलिये देवविषयक रति और श्रीकृष्णविषयक रति दो भिन्न बाते है। पहली तो भाव की

श्रेणी मे आ सकती है किन्तु दूसरी भक्तिरस का स्थायिभाव बनकर स्वतंत्र रस का बोध कराती है। उसके आलम्बन केवल कृष्ण (या राम), उद्दीपन भक्तो का समागम तीर्थ सेवन, नदी या एकान्त पवित्र तीर्थ स्थल आदि, भगवान के नाम तथा लीला का कीर्तन, गद्‌गद हो जाना, अश्रु—प्रवाह, कभी नाचना तथा कभी हंसना या कभी रोना आदि अनुभाव तथा मति, ईर्ष्या तथा वितर्क आदि व्यभिचारि भाव है।

अधिकाश साहित्यशास्त्र के आचार्य भक्ति तथा वात्सल्य इन दोनों को अलग रस मानने के पक्ष में नही है। क्योकि उनके आधारभूत स्थायिस्नेह के ही रुपान्तर मात्र है। विभिन्न लिङ्गक और समवयस्क व्यक्तियो का परस्पर स्नेह 'रति' कहलाता है। उत्तम या बडे का छोटे के प्रति स्नेह मैत्री और चेतन का अचेतन के प्रति स्नेह लोभ कहलाता है। यह सब रति के ही नामान्तर है। अलग तात्विक मूल स्थायिभाव नही है। इसलिये साहित्यशास्त्रियों ने भक्ति तथा वात्सल्य को अलग रस नहीं माना है। अपितु उनकी गणना भावो मे की है। देवादिविषयक रति को भाव कहते हैं। इसलिये साहित्यशास्त्र के अनुसार भक्ति एवं वात्सल्य दोनो 'भाव' हैं, रस नही। उनको भक्ति—भाव तथा वात्सल्यभाव कहना चाहिये, भक्तिरस और वात्सल्य—रस नहीं।

इस प्रकार विभिन्न आचार्यों ने आठ से लेकर दस व ग्यारह तक रसो की संख्या मानी है, किन्तु इनमे भी अनेक आचार्यो ने प्रधानता और अप्रधानता की दृष्टि से अलग—अलग मूल रसो की कल्पना की है। स्वयं भरत—मुनि आठ रसों में से श्रृङ्गार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स इन चार रसों को प्रधान मान कर, शेष चार रसों की उत्पत्ति इन चार रसों से ही होती है, इस बात का प्रतिपादन करते है। इनके अतिरिक्त अपनी दृष्टि से किसी एक ही विशेष रस को मूलरस मानने की प्रवृत्ति

भी साहित्यशास्त्र मे पायी जाती है। महाकवि भवभूति करुणरस को एकमात्र रस बतलाते है (एको रसः करुण एव) तो भोज अपने श्रृङ्गार प्रकाश मे श्रृङ्गार को ही एकमात्र मूल रस बताते है।[5] हमारे आचार्य रुद्रभट्ट स्वयं इस परम्परा के अग्रणी है। वे ' श्रृङ्गारो नायको रसः' का स्पष्ट उद्घोष करते है।

धर्मादर्थोऽर्थतः कामः कामात् सुखफलोदयः।

साधीयानेष तत्सिद्ध्यै श्रृङ्गारो नायको रसः।।

शृ.ति., 1/20, पिशेल संस्करण

धर्म से अर्थ, अर्थ से काम, और काम से सुखरुप फल की उत्पत्ति होती हैं। उस (सुखफलोदय) की सिद्धि के लिये श्रृङ्गार ही अपेक्षाकृत अधिक साधक है, इसलिये यह सभी रसो का नायक है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ अपने पूर्वज नारायण पण्डित के केवल अद्भुत रस को ही मूलरस मानने का उल्लेख करते हैं, वहीं दूसरी ओर अभिनवगुप्त शान्तरस को ही एकमात्र मूलरस प्रतिपादित करते हुये अभिनव भारती मे लिखते है –

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।

पुर्ननिमित्तपाये च शान्त एवोपलीयते।।

रसों की अलौकिकता के साथ उनकी सुख–दुखरुपता का प्रश्न भी प्राचीन साहित्यशास्त्रियों के लिये एक विवेचनीय प्रश्न रहा है। इस विषय मे प्रायः तीन प्रकार के मत पाये जाते है। प्रथमतः धनिक, धनञ्जय और विश्वनाथ आदि सभी रसों को नितान्त सुखरुप मानते हैं इन लोगों ने करुण रस को भी सर्वथा सुखात्मक रस माना है। इन के विपरीत अभिनवगुप्त ने प्रत्येक रस को

उभयात्मक[6] रस माना है। अर्थात् प्रत्येक रस में सुख और दुःख दोनो का समावेश रहता है, किन्तु इनमे श्रृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत इन चार रसों मे सुख की प्रधानता के साथ दुख का अनुवेध रहता है, इसके विपरीत रौद्र, भयानक, करुण तथा वीभत्स इन चार रसो मे दुख की प्रधानता के साथ सुख का आशिक अनुवेध रहता है। केवल शान्त रस को उन्होंने सर्वथा सुखात्मक रस माना है। इस विषय का प्रतिपादन अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती ग्रन्थ के प्रथम अध्याय मे विस्तार पूर्वक किया है।

रसों के विषय मे नाट्यदर्पणकार[7] का मत इन दोनो से भिन्न प्रकार का है। उसे हम विभज्यवादी मत कह सकते हैं। इन्होंने सभी रसो को न सुखात्मक माना है और न सब रसों मे सुख दुख दोनों का समावेश माना है। उन्होंने रसों को अलग–अलग दो विभागो में विभक्त कर दिया है, जिनमें से श्रृङ्गार, हास्य, अद्भुत, वीर और शान्त इन पांच रसो को सर्वथा सुखात्मक और करुण, रौद्र, बीभत्स तथा भयानक इन चार रसो को सर्वथा दुखात्मक बतलाया है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के मनिषियो ने भी इस पर विचार किया है। अरस्तु ने समस्त काव्यरसों की परिणति सुख या आत्मास्वाद में कराई है। वस्तुत यही मत संगत प्रतीत होता है कि काव्य के समस्त रस केवल सुखात्मक होते है। आचार्य मम्मट ने काव्य का महत्व प्रतिपादित करते हुये कवि की सृष्टि को ब्रह्मा की सृष्टि से इसी आधार पर श्रेष्ठ बतलाया कि कवि की सृष्टि में नौ रस होते हैं और सभी रस रुचिर होते है। (नवरसरुचिरा) जबकि ब्रह्मा की सृष्टि में केवल छः रस होते हैं और उनमें भी सभी हृद्य नहीं (न च हृद्यैव तैः) होते। काव्यगत पात्र लौकिक पात्रों की अपेक्षा संवेदना के एक भिन्न स्तर पर जीते हैं, जो देश, काल आदि की सीमाओं से मुक्त हो जाते हैं, जिस का अर्थ यह हैं कि सहृदय उन्हे

व्यक्ति आदि की सीमाओ से मुक्त रुप मे देखने लगता है। यह तभी सम्भव है जब सहृदय की सवेदना भी इन सीमाओ का अतिक्रमण कर जाये। सवेदना के इस स्तर पर, स्वार्थ आदि का भाव न रहने पर, दुखात्मक भावो की दुःखात्मकता भी नही रहती क्योकि दु खात्मकता तो वही तक है जहां तक योगक्षेम की संवेदना है। यही स्थिति साधारणीकरण कहलाती है। इस स्थिति का आस्वादन व्यक्ति स्वपरविवेकशून्य हो कर करता है अतः यह सिर्फ सु:खात्मक ही हो सकती है। दु:खात्मक भाव तो स्वपरविवेक से उत्पन्न होते है। रसनाद्रसत्वमादि कहकर रुद्रट भी रस को आस्वादन योग्य बतलाते हैं। रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु का कथन है कि चित्त की कोई ऐसी अवस्था ही नही जो परिणत होकर रस न बन जाये।

आचार्य रुद्रभट्ट मूलत शृङ्गारिक उपाख्यानों का वर्णन करने के लिये शृङ्गारतिलक की रचना करते है अत वे काव्यशास्त्रीय विवेचन मे ज्यादा श्रम करने की आवश्यकता नहीं समझते। उन्होंने 9 स्थायी भावो, 33 व्यभिचारि भावो तथा 8 सात्विक भावों का सिर्फ नामत. उल्लेख कर दिया है। इस सबंध में उन्होंने भरत मुनि की कारिकाओं को थोडे हेर–फेर के साथ लगभग वैसे का वैसा लिख दिया है। हां, स्थायीभावों के प्रकरण में 'जुगुप्साविस्मयश्चेति' को 'जुगुप्सविस्मयशमाः' लिखकर नौ स्थायी भावों का अपना प्रयोजन अवश्य पूर्ण कर लिया है। उनके नौ स्थायी भाव क्रमशः रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम है। इसी प्रकार से 33 व्यभिचारी भाव ये हैं – निर्वेद ग्लानि, शङ्का, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जडता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, अवबोध, अमर्श, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, मरण, त्रास और वितर्क। भरत ने भी इसी क्रम से समस्त भावों का उल्लेख किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि भरत मुनि के अनुसार कुल भाव

उनचास होते है। (8 स्थायी+ 33 व्यभिचारि+ 8 सात्विक भाव = 49) वही रुद्रभट्ट कुल भावो की संख्या 50 बताते है (9 स्थायी+ 33 व्यभिचारि+ 8 सात्विक भाव = 50)। वाग्देवतावतार मम्मट ने काव्यप्रकाश मे भरत मुनि के अनुसार एव उसी क्रम मे आठ स्थायी भावों तथा तैतीस व्यभिचारि भावो का उल्लेख किया है। बाद में "निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रस" कहकर रसों व स्थायी भावों की सख्या क्रमश नौ–नौ कर देते है, किन्तु सात्विक भावों का उपाख्यान वे भी कर देते हैं। रुद्रट ने रसो की संख्या लिखने के अनन्तर स्थायी भावो, व्यभिचारियो एवं सात्विक भावो की चर्चा भी नही की अत उनके टीकाकार नमिसाधु ने यथास्थान इनका उल्लेख भरतमुनि के शब्दो मे कर दिया है। अत प्रेयान् का स्थायीभाव भी उक्त स्थल पर स्पष्ट नहीं है। यह पञ्चदश अध्याय मे जाकर स्पष्ट होता है जब वे लिखते हैं – स्नेहप्रकृति प्रेयान् (15/17) दशरुपककार आठ स्थायी भावो का भिन्न क्रम से उल्लेख कर अन्त मे कहते हैं

"शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य"।[8]

(कुछ लोगो ने "शम को भी कहा है किन्तु नाट्य में इसकी पुष्टि नहीं होती। जहां तक व्यभिचारी भावो का प्रश्न हैं दशरुपककार 33 व्यभिचारी भावों को गिनाते हुये उनके लक्षण व उदाहरण भी देते है। दशरुपककार ने बहुत विस्तार से विभाव, अनुभाव, भाव, सात्विक भाव व व्यभिचारि भावों का विवेचन किया है जिसका यहां उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है।

विभाव[9]

दशरुपककार के अनुसार जो ज्ञायमान–विभाव्यमान होकर भाव को पुष्ट करें वह विभाव है। वह आलम्बन और उद्दीपन के भेद से दो प्रकार का होता है। इसका विस्तार करते हुये वे कहते हैं जो नायक आदि या अभीष्ट देशकालादि

काव्य के अतिशयोक्ति रुप वर्णन (लोकोत्तर वर्णन) के द्वारा विशिष्ट रुप वाले हो जाने के कारण आलम्बन के रुप में या उद्दीपन के रुप मे जाने जाते है, वे विभाव कहलाते है।

अनुभाव[10]

रति आदि भावों को सूचित करने वाला विकार (शरीरादि का परिवर्तन) अनुभाव है। वस्तुत लौकिक रस की दृष्टि से ही अनुभावो को भावसूचक विकार कहा गया है, काव्य–रसिकों द्वारा आस्वादित रस की दृष्टि से तो अनुभाव रस के कारण होते हैं विकार (कार्य) नही।

भाव[11]

सुख–दुख आदि के द्वारा दर्शकों के चित्त को भावित कर देना भाव कहलाता है। इस लक्षण में यह बतलाया गया है कि स्थायिभाव तथा व्यभिचारी भाव इन दोनों को भाव क्यों कहा जाता है तदनुसार काव्य में वर्णित या नाट्य मे अभिनीत सुख–दुख आदि (अथवा रति एवं चिन्ता आदि) सहृदय के चित्त को भावित करते हैं –तन्मय– करते है अतः ये भाव कहलाते है।

सात्विक भाव[12]

सात्विक भाव भी यद्यपि अनुभाव (भावों के पश्चात् होने वाले) ही है तथापि पृथक रुप से भाव कहलाते हैं, क्योंकि उनकी सत्व से ही उत्पत्ति हुआ करती है। सत्व का अर्थ है किसी भाव से भावित होना (तन्मय होना)।

नाट्य शास्त्र में अभिनय के सन्दर्भ में सात्विक शब्द की व्याख्या की गई है। नट (अभिनेता) 'सत्व' के द्वारा ही अश्रु आदि का अभिनय कर सकता है अतः ये सात्विक कहलाते है। सामान्यतः 'सत्व' शब्द का अर्थ है – मन या निर्मल मन। सभी भावो का अभिनय मन के बिना नहीं किया जा सकता तथापि अश्रु आदि

भावो को सात्विक भाव कहने का कारण यह है कि ये सत्व-विशेष से उत्पन्न होते है। वह सत्वविशेष मन की एक अवस्था है जो एकाग्रता से उत्पन्न होती है इस अवस्था मे मन दूसरे के सुख–दुख मे तद्रूप हो जाया करता है (तन्मय हो जाता है) यही 'तद्भाव भावनम्' उसके सुख–दुख आदि से भावित होना है। इस सत्व के आधार पर ही अभिनेता (नट) अनुकार्य दुष्यन्त आदि के सुख–दुख की भावना से अपने अन्त.करण को तन्मय कर लेता है। इसे ऐसे, कहें कि वह भी सुखी और दुखी सा हो जाता है तभी वह रोमांच या अश्रु आदि को प्रगट कर सकता है। अभिनेता के मन मे जो सुख–दुख की भावना होती है वह सत्वजन्य होती है अत वस्तुत उसके ये आरोपित सुख–दुख ही सात्विक होते है। (सात्विकारत्त एव भावा.) इनके द्वारा ही नट अश्रु रोमांच आदि को प्रगट करता है, अत उसके अश्रु, रोमाच इत्यादि भी सात्विक भावो से उत्पन्न होने के कारण सात्विक भाव कहलाते है (तत उत्पद्यमानत्वाद् अश्रुप्रभृतयोऽपि भावाः सात्विका इति शेष.) ये अश्रु इत्यादि भाव वस्तुत अनुभाव ही हैं, क्योकि ये अनुभावों के समान ही हृदय मे स्थित हर्ष, दुख आदि भावो के विकार होते हैं। और उनकी सूचना देते है।

रुद्रभट्ट के ये आठ सात्विक भाव है स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभङ्ग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वराभङ्गोऽथ वेपथुः।

वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः।।

1/15

आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में ये ही सात्विक भाव बतलाये है। रुद्रभट्ट ने इसे ज्यो का त्यों लिख दिया है। वस्तुतः अभिनय के चार प्रकारों के

क्रम मे ये सात्विक भाव गिनाये गये है। ये चार प्रकार है– आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक।

रुद्रट और मम्मट ने सात्विक भावों का उल्लेख नहीं किया है। दशरुपककार सत्व की विस्तृत विवेचना के पश्चात् आठ सात्विक भाव गिनाते है। ये है– स्तम्भ, प्रलय, रोमाच, स्वेद, वैवर्ण्य (रग फीका पडना) वेपथु (कम्पन्न) अश्रु तथा वैस्वर्य (स्वरभङ्ग, आवाज बदल जाना) भरत व रुद्रभट्ट ने इसे स्वरभङ्ग ही कहा है।

दशरुपककार आगे कहते है कि अङ्गो का क्रियारहित हो जाना (निष्क्रिय हो जाना) स्तम्भ है। चेतना (संज्ञा) का नष्ट हो जाना प्रलय है।

व्यभिचारी भाव

जिस प्रकार सागर के होने पर ही तरङ्गे उत्पन्न होती है और विलीन होती हैं, उसी प्रकार रति आदि स्थायी भाव के होने पर ही, उसको लक्ष्य करके (उसके पोषण के लिये) जिनका आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है वे निर्वेदादि व्यभिचारि भाव कहलाते हैं। अभिप्राय यह है कि तरंगे सागर के होने पर ही होती है उसी प्रकार स्थायी भाव के होने पर ही व्यभिचारियो का अविर्भाव एवं तिरोभाव होता है।

'विविधम् आभिमुख्येन रसेषुचरन्तीति व्यभिचारिणः' भाव यह है कि सागर में लहरों के समान स्थायी भाव में उत्पन्न होकर तथा विलीन होकर जो निर्वेद आदि भाव रति आदि स्थायी भाव को विविध प्रकार से पुष्ट करते है – उसे रस रुपता की ओर ले जाते हैं, वे व्यभिचारिभाव कहलाते है। इसके अतिरिक्त इनके व्यभिचारिभाव नाम का आधार भी यही है कि ये किसी स्थायिभाव के साथ होने पर भी; कोई व्यभिचारिभाव कभी होता है, कभी भाव के साथ होता हैं, कभी किसी

स्थायिभाव के साथ होता है, कभी किसी दूसरे के साथ। इन्हे सञ्चारी भाव भी कहते है क्योंकि ये स्थायिभाव को रसरुपता की ओर ले जाते है। सञ्चारयन्ति भावस्य गति सञ्चारिणोऽपि ते। तैतीस व्यभिचारिभावो का उल्लेख रुद्रभट्ट ने भरतमुनि के शब्दों में ही किया है। उनकी कारिकायें नाट्यशास्त्र की कारिकाओ से पूर्णतया अभिन्न हैं सिर्फ अन्तिम कारिका के अन्तिम चरण को अपवाद माना जा सकता है। भरत ने लिखा है –

"त्रयस्त्रिशदमी भावाः समाख्यातस्तु नामतः।"

जबकि रुद्रभट्ट लिखते हैं –

"त्रैयस्त्रिंशदमी भावा प्रयान्ति च रसस्थितिम्"

वस्तुत यहां पर रुद्रभट्ट काव्यालङ्कार के प्रणेता रुद्रट का अनुसरण करते जान पडते हैं। रुद्रट कहते है।

रसनाद्रसत्वमेतेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।

निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः।।

जिस प्रकार मधुर, तिक्त आदि आस्वाद्य होने के कारण रस कहलाते हैं, इसी प्रकार इन रति आदि को भी आस्वाद्य होने के कारण ही (रसनात्) आचार्यो ने रस कहा है। आस्वाद्यता (रसन) निर्वेद आदि भावो में यथेष्ट रुप से (निकामम्) विद्यमान है इसलिये वे भी रस हैं।

इन्हीं पक्तियों की व्याख्या करते हुये नमिसाधु टिप्पणी करते हैं, – "यदुतनास्ति सा कापि चित्तवृत्तिर्या परिपोषं गता न रसीभवति।" अर्थात् ऐसी कोई भी चित्तवृत्ति नहीं है जो विभावादि से परिपुष्ट होकर रस नहीं बन जाती।

इसी भाव के पोषक होने के कारण आचार्य रुद्रभट्ट ने 'प्रयान्ति च रसस्थितिम्' लिखा। इतना ही नहीं अपितु रुद्रभट्ट इन भावों के महत्व पर आगे

भी कहते हैं कि जैसे विभिन्न द्रव्य मधुर आदि रसात्मकता को प्राप्त होते है। वैसे ही ये भाव जब अत्यन्त सम्पन्न होते हैं तब रसत्व को प्राप्त होते है। आगे वे कहते हैं कि जैसे वृक्ष मे पत्र पुष्प और फल आदि निकलते है वैसे ही रस मे भी सुन्दर और विशेष भाव रुपी पत्र, पुष्प और फल आदि उत्पन्न होते है।

भावा एवातिसम्पन्नाः प्रयान्ति रसताममी।
यथा द्रव्याणि भिन्नानि मधुरादि रसात्मताम्।।
सम्भवन्ति यथा वृक्षे पत्रपुष्पफलादयः।
तद्वद्रसेऽपि रुचिरा विशेषाभावरुपिणः।।

रुद्रट ने व्यभिचारिभावों का नामोल्लेख तक नही किया किन्तु उनकी पङ्क्ति निर्वेदादिभि से स्पष्ट है कि वे भी भरतमुनि के तैतीस व्यभिचारिभावों को यथा तथ्य स्वीकार करने के कारण उसका नामसङ्कीर्तन आवश्यक नहीं समझते।

आचार्य मम्मट ने भी नाट्यशास्त्र की कारिकाओं को व्यभिचारिभावो के सन्दर्भ मे जैसे का तैसा उतार दिया है। दशरुपककार की कारिकाओ में न सिर्फ उनका अपना क्रम है अपितु वे तैंतीस व्यभिचारिभावों का सोदाहरण विवेचन भी करते हैं – उनके व्यभिचारी ये हैं – निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, श्रम, धृति, जडता, हर्ष, दैन्य, औग्र्य (उग्रता), चिन्ता, त्रास, ईर्ष्या, अमर्ष, गर्व स्मृति, मरण, मद, सुप्त, निद्रा विबोध, व्रीडा, अपस्मार, मोह, सुमति, अलसता, वेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य तथा चपलता।

इस प्रकार हम पाते है कि थोडे से हेर–फेर के साथ वहीं तैंतीस व्यभिचारी निर्विवाद रुप से दशरुपककार को भी अभीष्ट हैं। जिनके नामों में उन्होंने परिवर्तन किया हैं वे हैं – असूया को ईर्ष्या, उग्रता को औग्र्य, अवबोध को

विबोध, आवेग को वेग, मति को सुमति तथा वितर्क को तर्क। दशरुपककार इन व्यभिचारियो का विस्तार करते हुये इनके उपविभाजन उदाहरण सहित दिखलाते है जैसे उनके मत में निर्वेद तीन या उस से अधिक प्रकार का होता है (– जैसे तत्व ज्ञान से होने वाला निर्वेद, ईर्ष्या से होने वाला निर्वेद, आपत्ति से होने वाला निर्वेद, वीर तथा शृङ्गार का व्यभिचारिभाव होने वाला निर्वेद आदि।) इन सभी के वे उदाहरण भी देते है। इसी प्रकार से अन्य व्यभिचारियो के बारे में भी वे उपविभाजनो सहित लक्षण व उदाहरण देते हैं।

काव्य दोष

काव्यशास्त्रीय विवेचन में दोषो का प्रकरण बहुत महत्वपूर्ण है। आचार्यों ने काव्य के निर्दुष्ट होने पर बहुत बल दिया था और कहा था कि काव्य को दोषो से रहित होना चाहिये। काव्यशास्त्रियों का अभिमत था कि दोष काव्य का अपकर्ष या विघटन करते हैं अतः कवि को काव्य की रचना करते समय इनसे सावधान रहना चाहिये काव्य दोषों की विवेचना करने के पहले दोष क्या है इस पर कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। मम्मट ने दोषो का स्वरुप इस प्रकार कहा है –

मुख्य अर्थ का जो अपकर्ष करें वह दोष है।[13] मुख्य अर्थ है रस अत. जो रस का अपकर्ष करे वह दोष है। रस का आश्रय होने के कारण वाच्य (अर्थ) तथा रस एवं अर्थ दोनो का आश्रय होने के कारण शब्दादि भी प्रकारान्तर से मुख्य अर्थ की ही भांति होते हैं अतः जो अर्थ और शब्दादि का अपकर्ष करें वह दोष है। इसलिये क्योकि शब्दादि का अपकर्षक अन्ततः रस का भी प्रकारान्तर से अपकर्षक होता ही है अतः वह भी दोषों की श्रेणी में आयेगा।

विश्वनाथ ने दोष का जो स्वरुप बताया है, वह मम्मट से भिन्न नहीं है। उनके अनुसार रस के अधिक अपकर्षक तत्व दोष है।[14] इसके अनन्तर उन्होंने

दोषो का विभाजन पदगत, पदाशगत, वाक्यगत, अर्थगत और रसगत के रुप मे किया है।

जयदेव अलङ्कारवादी आचार्य थे। उन्होने दोषो की स्थिति शब्द और अर्थ में स्वीकार की थी।

"दोष वह होता है जिसके द्वारा मन मे उद्वेग उत्पन्न होता है और काव्य की रमणीयता नष्ट होती है। यह दोष शब्द और अर्थ मे रहता है।"[15]

दोष के स्वरुप का निर्णय करते समय आचार्यों ने उनके नित्यत्व और अनित्यत्व पर भी विचार किया है। इस दृष्टि से आचार्यो ने इनके दो वर्ग किये थे –नित्य दोष और अनित्य दोष। यह विभाजन रस की अभिव्यक्ति की दृष्टि से किया गया था। कुछ दोष ऐसे है जो सभी अवस्थाओ मे दोष रहते है। परन्तु कुछ दोष ऐसे हैं जो किन्हीं रसो की अभिव्यक्तियों मे तो दोषरुपेण हैं किन्तु दूसरे रसो की अभिव्यक्ति मे वे दोषरुपेण न रहकर अपितु गुणरुपेण हो जाते है। जैसे श्रृतिकटु दोष श्रृङ्गार रस की अभिव्यक्ति मे तो दोषरुपेण है परन्तु रौद्र इत्यादि की अभिव्यक्ति कराने मे वही गुण हो जाता है। कही सञ्चारी आदि का स्वशब्दोपादान दोष होता है[16] तो कहीं नहीं।[17] इतना ही नहीं कहीं–कहीं पर तो इनका बाध्यत्वेन कथन करना गुणाधायक हो जाता है।[18]

काव्य के दोषों का सर्वप्रथम उल्लेख भरतमुनि ने किया था। नाट्यशास्त्र के सोलहवें अध्याय में उन्होने दश दोषों का विवेचन किया था[19] तथा उनके लक्षण लिखे थे।[20] प्राचीनकाल में काव्य को दोषो तथा गुणो की यहीं सामान्य संख्या थी। भरत ने इन दोषों की यद्यपि विशद विवेचना नही की। सबसे पहले रीतिवादी आचार्यो ने काव्य गुणों तथा दोषों का गंभीर विवेचन किया था। डा0

सुशील कुमार डे का कथन है कि "भरत के निकटतम परवर्ती आचार्यो ने दोषों तथा गुणों की जो सख्या दी है, वे भरत द्वारा दी गई सख्या तथा विवेचन के अनुरुप नही है। भामह ने तर्काश्रित शुद्धता[21] की दृष्टि से एक स्थल पर ग्यारहवे दोष का उल्लेख किया है तथा एक अन्य स्थल पर काव्य के दस दोषो की सूची दी है।" डा0 एस0के0 डे के अनुसार भरत ने निम्नलिखित काव्य दोषों को उल्लेख किया है –

1. गूढार्थ (पर्यायशब्दाभिहितम्)[22]
2. अर्थान्तर (अवर्ण्यस्य वर्णनम्)[23]
3. अर्थहीन (असम्बद्ध) (अशेषार्थ)
4 भिन्नार्थ (असभ्य अथवा भिन्नार्थ)
5. एकार्थ (एकार्थस्य अभिधानम्)
6. अभिप्लुतार्थ (यत्पदेन समस्यते)[24]
7. न्यायादपेतं (प्रमणवर्जित)
8. विषम (वृत्त दोष)
9. विसन्धि[25]
10. शब्दहीन (अशब्दस्य योजनम्)[26]

भरत ने इस चर्चा के आरम्भ में कहा है कि गुण दोषों के विपर्यय होते हैं (गुणा विपर्ययादेशाम्) यह एक असामान्य कथन है क्योंकि वामन जैसे परवर्ती लेखकों ने अपने सिद्धांत में गुणों को निश्चित तत्व माना है।

भामह कालक्रम से भरत के बाद आतें है उन्होंने अपने काव्यालङ्कार के चौथे अध्याय के लगभग 63 श्लोकों में दोषों का वर्णन किया है। उनके द्वारा गिनायें गये दोष निम्न है।

1. अपार्थ – अपूर्ण अर्थ[27]
2. व्यर्थ – सदर्भ प्रतिकूल अर्थ
3 एकार्थ – (भामह के कथनानुसार अन्य आचार्यो ने इसे पुनरुक्त कहा है। भरत इस सर्वविदित शब्द से अनभिज्ञ थे।)
4. ससंशय
5 अपक्रम
6. शब्दहीन (व्याकरण से असिद्ध शब्दो का प्रयोग)
7. यतिभ्रष्ट
8. भिन्नवृत्त
9. विसंधि
10. देश–काल–कला–लोक न्यायागम विरोधि = अर्थात देश, काल, कला, लोक, न्याय, आगम (धर्मशास्त्र) के विरुद्ध।

इन दस दोषों के अतिरिक्त भामह ने अशुद्ध 'प्रतिज्ञा' अशुद्ध 'हेतु' तथा अशुद्ध 'दृष्टान्त' पर आश्रित दोषो का भी उल्लेख किया है। क्योकि यह दोष काव्यन्याय की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है, अतएव भामह ने पृथक् रुप से इसका निरुपण किया है। सामान्य काव्य लक्षणों की चर्चा करते हुये भामह ने एक अन्य स्थल (1/37) पर दस अतिरिक्त दोष भी बताये है। जिनसे कवि को बचना चाहिये। अर्थात्–

1. नेयार्थ
2. क्लिष्ट
3. अन्यार्थ
4. अवाचक

5. गूढ शब्दाभिधान

6 अयुक्तिमत्। यथा काव्य मे संदेशवाहक मेध।

7. श्रुतिदुष्ट (प्रत्यक्ष रुप से ग्राम्य) [28]

8. अर्थदुष्ट (परोक्ष रुप मे ग्राम्य परवर्ती लेखको ने इसे अश्लीलता कहा है।)

9. कल्पनादुष्ट – दोषयुक्त कल्पना (अवांछित अर्थ मे दो शब्दो का सहयोजन)।

10 श्रुतिकष्ट[29]

इन दस दोषों का विवरण देने के पश्चात् भामह ने यह भी बताया है कि कब यह दोष गुण बन जाते हैं (1–54–58)। दस दोषो के इन दो वर्गों के परस्पर भेद के विषय में भामह ने कुछ नहीं कहा है, किन्तु इसके विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरे वर्ग के दोष काव्य के तत्व से सम्बन्धित हैं तथा पहले वर्ग के दोष काव्य के बाह्य आकार अथवा रुप से सम्बन्धित है। इन दोष विषयक दो सूचियो से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि भामह के दोष नाम तथा तत्व की दृष्टि से भरत के दोषों के अनुरुप हैं, तथापि भामह का तत्सम्बन्धी विवेचन अपेक्षाकृत निश्चित रुप मे भरत से अधिक व्यापक है।

एक बात और ध्यान देने की है कि अंतिम दोष 'श्रुतिकष्ट' पर चर्चा करते हुये भामह ने कहा है कि (1–54) विशेष शब्द–विन्यास के कारण कभी–कभी सदोष पदावली भी स्वीकार्य हो सकती है, या दूसरे शब्दों में, कभी–कभी दोष भी गुण मे परिवर्तित हो जाता है। इसके विपरीत भरत के अनुसार सभी गुण दोषों के विपर्यय अर्थात् विरोधी ही होते है।

भामह के पश्चात् रीतिमार्गी दंडी का नाम आता है। दंडी का काव्य विवेचन वस्तुतः भामह के अलङ्कार सिद्धान्त तथा वामन के रीति सिद्धान्त के बीच का है।

जहां तक सिद्धान्त का मत है उनका मत स्पष्टत. वामन के समीप है। दण्डी भी काव्य मे दोषों के परिहार को महत्व देते है। उनका कथन है कि काव्य के छोटे से छोटे दोष को भी अक्षम्य समझना चाहिये। काव्य में छोटा सा भी दोष इस प्रकार का होता है, जैसे कि सुन्दर शरीर पर कोढ का दाग हो और इससे भी घृणा का भाव उत्पन्न होता है। भरत का अनुसरण करते हुये दण्डी ने काव्य के दस दोषों का उल्लेख किया है किन्तु उनकी दोष परिभाषाये अधिकांशत भरत से भिन्न है। उनके नाम तथा उनका सारतत्व भरत की दोष–सूची से भिन्न है। एकमात्र अपवाद ग्यारहवा दोष अर्थात् न्यायदोष है, जिसे भामह ने तो मान्यता दी है किन्तु दण्डी ने अविवेच्य मानते हुये उसकी चर्चा को व्यर्थ बताया है और उसे सर्वथा अस्वीकार किया है किन्तु दण्डी ने इस दोष के छ. उपभेद भामह के अनुसार ही दिये है। भामह ने जिन काव्य दोषों का अपनी दूसरी पुस्तक मे उल्लेख किया है, वे सामान्यतः वही दोष (अथवा गुणो के विपयर्य) हैं जिनका दण्डी के कथनानुसार वैदर्भ मार्ग मे अभाव होता है तथा जो सामान्यत. गौड–मार्ग के लक्षण होते है। दंडी ने स्पष्ट रुप से इनमें से कुछ गुण–विपर्ययों का उल्लेख किया हैं, वे इस प्रकार है –

1. श्लेष का विपर्यय, शिथिल,
2. प्रसाद का विपर्यय, व्युत्पन्न,
3 समता का विपर्यय, वैषम्य,
4. सुकुमारता का विपर्यय, दीप्त,
5. कांति का विपर्यय, अत्युक्ति,
6. अर्थव्यक्ति का विपर्यय, नेयत्व तथा
7. माधुर्य का विपर्यय, अनाम।

भामह के दस काव्य दोषो के स्थान पर दण्डी ने इन सात काव्य दोषो का उल्लेख किया है, किन्तु दण्डी के कथनानुसार उदारत्व तथा समाधि (और सम्भवत ओज) नामक गुणो के विपर्यय नही होते, क्योकि ये दोनो गुण दोनो मार्गो मे समान है। उन्होने उपमा–दोषों की व्यवस्थित रुप मे चर्चा नही की है।

सबसे पहले भरत ने यह प्रश्न उठाया था कि काव्य मे दोषो का अस्तित्व निश्चित रुप मे होता है अथवा वे केवल गुणो का विपर्यय होते है। दंडी ने इस समस्या का कही विवेचन नही किया है। भरत के कथनानुसार गुण केवल दोषाभाव की नकारात्मक अवस्था को ही परिलक्षित करते है, अर्थात् काव्य में दोषो का अस्तित्व ही गुणो के अस्तित्व को परिलक्षित करता है। दण्डी के तत्सम्बन्धी विवेचन से यह स्पष्ट है कि उन्होने भामह का अनुसरण करते हुये, चौथे अध्याय मे बाह्य दोषो को निश्चित तत्वों के रुप मे ही निर्दिष्ट किया है तथा काव्य के वास्तविक दोषों को वैदर्भ मार्ग के कुछ गुणों के विपर्ययों तथा गौड मार्ग के निश्चित लक्षणों के रुप मे ही निर्दिष्ट किया है। दो प्रतिपक्षी काव्य शैलियों के परस्पर भेद का आश्रय लेकर उन्होंने इस विवाद से छुटकारा पाने की कोशिश की है और तथाकथित गुणो को वैदर्भ मार्ग के लक्षण तथा कुछ तथाकथित दोषों को गौड़ मार्ग के लक्षण बतलाया है। इधर वामन ने रीति के स्पष्ट सिद्धान्त के अनुरुप भरत के तत्सम्बन्धी मत का विरोध करते हुये गुणो को निश्चित काव्य–तत्व, तथा दोषों को गुणो का विपर्यय कहा है जैसा कि स्वयं गुणों से परिलक्षित होता है (गुण विपर्ययात्मनों दोषाः, अर्थतस्तदवगमः)। वामन ने यह भी कहा है कि दोषों का निरुपण किया जाना चाहिये ताकि उन्हें भली–भांति समझा जा सके। उन्होंने इसीलिये दोषों के चार भेद किये है –

1. पद–दोष

2. पदार्थ दोष

3 वाक्य दोष तथा

4 वाक्यार्थ दोष

रुद्रट ने गुणो तथा दोषो को पृथक–पृथक तत्वो के रुप में स्वीकार करते हुये एक और ही सिद्धान्त के अनुसार दोषो की संख्या तथा उनका जाति–भेद निरुपण किया है। शब्द तथा अर्थ को काव्य के दो अग मानते हुये उन्होंने (1) शब्द दोषो तथा (2) अर्थ दोषों के रुप मे दोषो के दो जाति भेद बतायें है। पहली दोष जाति मे ग्यारह दोष है, अर्थात् –

1. पददोष, यथा असमर्थ, अप्रतीक, विसंधि, विपरीत कल्पना, ग्राम्य, अव्युत्पन्न तथा देश्य (7 भेद)

2 वाक्यदोष यथा सङ्कीर्ण, गर्भित, गतार्थ तथा अलकार (4 भेद)। दूसरी दोष जाति में चार उपमा दोषों के अतिरिक्त 1 दोष है।

यथा अपहेतु, अप्रतीति, निरागम, बाधयन, असम्बद्ध, ग्राम्य, विरस,[30] तद्वत तथा अतिमात्र। रुद्रट ने केवल (4) चार उपमा दोष ही माने है अर्थात् सामान्य शब्दभेद, वैषम्य, असंभव तथा अप्रसिद्धि, किन्तु भामह ने सात उपमा दोषों का उल्लेख किया है। भामह तथा दंडी की तरह रुद्रट का भी यही मत है। कि स्थिति परिवर्तन के कारण दोष भी गुण हो जाते है। ध्वनि के आचार्यो के आगमन के पश्चात् (गुणों की तरह) दोष, प्रबन्धगत काव्य रस के आश्रित माने जाने लगे और रस की निष्पत्ति में बाधक और सहायक होना ही उनका लक्षण बताया गया। 'दोष-सिद्धान्त' अथवा उसके विपर्यय ~~अथवा~~ या विपक्षी, 'गुण-सिद्धान्त' का विवेचन केवल रस के ही दृष्टि कोण से किया जाने लगा। गुण तथा दोष निरपेक्ष तत्व नहीं रहें बल्कि उन्हें रस–निष्पत्ति के सापेक्ष लक्षणों के रुप मे अथवा लक्षणाभाव

के रुप मे स्वीकार किया गया, रस का निरुपण करते हुये इन आचार्यो ने गुणो तथा दोषों को औचित्य सापेक्ष बताया। दोषो को सामान्यत रसापकर्षक कहा गया (विश्वनाथ) किन्तु विशिष्ट रस दोषों के भी लक्षण दिये गये तथा उनका निरुपण किया गया। इस प्रश्न का कि दोष, नित्य अथवा अनित्य है (भामह तथा रुद्रट भी इस प्रश्न की चर्चा कर चुके है) समाधान इस प्रकार किया गया कि रस निष्पत्ति मे सहायक हो तो वह भी कभी–कभी गुण हो जाता है । मम्मट ने शब्द तथा अर्थ दोनों के भेद को स्वीकार किया है। इनके अतिरिक्त उन्होने रस–दोषों तथा अलङ्कार दोषो का भी उल्लेख किया है। गुणो तथा दोषों के विषय मे परवर्ती आचार्यो का भी यही मत रहा है कि गुणो तथा दोषो के अपने–अपने निश्चित अर्थ होते है, यद्यपि यह सच है कि कुछ दोष गुणाभाव तथा कुछ गुण दोषाभाव की अवस्थाओ मे परिणत हो जाते हैं। दंडी ने चौथे अध्याय में पृथक रुप से दस ऐसे दोषों का उल्लेख किया है जो उनके किसी भी गुण के विपर्यय नही हैं। प्राचीन आचार्यो ने दोषों का वर्णन सामान्य रुप से किया था इसको उन्होने काव्य–शास्त्र के एक महत्वपूर्ण विषय के रुप मे प्रस्तुत नहीं किया । उत्तरवर्ती आचार्यो के समान उन्होने दोषो का विभाजन पद, वाक्य अर्थ, आदि की दृष्टि से नहीं किया। दोषो की विवेचना मे उनका वर्गीकरण सबसे पहले वामन ने किया था। वामन ने यह वर्गीकरण पद–पदार्थ और वाक्य–दोषो के रुप मे किया उन्होने अलङ्कारों के दोष भी बताये थे। मम्मट आदि आचार्यों ने वामन के इस विषय विभाजन को कुछ अंशों में तो स्वीकार किया था परन्तु सम्पूर्ण रुप से नहीं। उदाहरण के लिए वामन के अलङ्कार दोषों का मम्मट ने स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया क्योकि उनके अनुसार इनका अंतर्भाव पद–दोषों में ही हो जाता है। भरत से लेकर विश्वनाथ तक अनेक आचार्यो ने दोषों के स्वरुप तथा उनके भेदों का विवेचन

किया है परन्तु सबसे अधिक पूर्ण तथा सन्तुलित विवेचन मम्मट और विश्वनाथ का है। दोनों का विवेचन प्राय. एक सा है। इनके विवेचन मे जिस प्रकार सभी दोषो का समावेश हो गया है उससे अन्य सभी आचार्यो के दोष –वर्णनो का समाहार हो जाता है । दोष की परिभाषा करते हुए मम्मट ने दोषों के प्रथमत तीन भेद किए –रस दोष अर्थदोष और शब्दादिदोष (शब्दाद्यास्तेन, 7/1) पुनश्च शब्दादि दोष का भी वे पदगत,समासगत,वाक्यगत और पदाशगत इस प्रकार चतुर्धा विभाजन करते हैं विश्वनाथ ने सीधे ही दोषों का पद, पदाश, वाक्य,अर्थ और रस इन पाच वर्गो मे विभाजन किया है। अलङ्कार दोषो को पदगत मानते हुए भी इनका पृथक विवेचन कर दिया गया है। अतः इस प्रकरण मे पद, पदांश ,वाक्य अर्थ रस और अलङ्कार तत्व के दोषो का वर्णन करते हैं।

पद दोष

मम्मट और विश्वनाथ इन दोनों ही आचार्यों ने पद दोषों के 16 भेद–प्रदर्शित किए हैं ये कमशः हैं – श्रुतिकटु, च्युतसस्कृति, अप्रयुक्त, असमर्थ निहितार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील (3 प्रकार का –व्रीडाव्यञ्जक, जुगुप्सा व्यञ्जक, अमङ्गल व्यञ्जक,) सन्दिग्ध, अप्रतीत, ग्राम्य, नेथार्थ ,क्लिष्ट, अविमृष्टविधेयांश, विरुद्धमतिकृत। इन 16 प्रकार के दोषों में अतिम तीन दोष क्लिष्ट, अविमृष्टविधेयांश और विरुद्धमतिकृत दोष केवल समासगत होते है। समास के अभाव में ये पदगत न होकर वाक्यगत हो जायेंगें।

पदांश दोष

ऊपर जिन दोंषों का उल्लेख किया गया उन्ही में सें कुछ दोष पदाशगत भी होते हैं विश्वनाथ ने पदांश दोष केवल पांच कहे हैं, दुःश्रवत्व, निहितार्थत्व, अवाचकत्व, अश्लीलत्व और नेयार्थत्व। परन्तु ममम्ट के अनुसार पदांश दोष सात

प्रकार के होते हैं श्रुतिकटु, निहितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील सन्दिग्ध, नेथार्थ।

वाक्य दोष – वाक्य दोष दो प्रकार के कहे गए है, इनमें कुछ वाक्यदोष तो वे ही हैं, जो कि 16 दोष कहे गये हैं, उनमे से च्युतसंस्कृति,असमर्थ और निरर्थक को छोडकर शेष वाक्य दोष भी होते हैं। इस प्रकार 13 वाक्य दोष पद दोषों के ही समान होंते है। ये इस प्रकार है। श्रुतिकटु, अप्रयुक्त, निहितार्थ, अनुचितार्थ, अवाचक तीन प्रकार का अश्लील, सन्दिग्ध, अप्रतीत, ग्राम्य, नेयार्थ, क्लिष्ट, अविमृष्टविधेयांश, विरुद्धमतिकृत इन सामान्य वाक्य–दोषो के अतिरिक्त मम्मट ने 21 अन्य दोषो का भी वर्णन किया है जो केवल वाक्य में ही होते हैं। ये इस प्रकार है। प्रतिकूलवर्ण, उपहतविसर्ग, लुप्तविसर्ग, विसन्धित्व, हतवृत्ता, न्यूनपदता, अधिकपदता, कथितपदता, पतत्प्रकर्षता, समाप्तपुनरात्तता, अर्थान्तरिकवाचकत्व, अभवन्मत–योगत्व, अनिभिहितवाच्यत्व, अपदस्थपदता (अस्थानस्थपदता) अपदस्थसमासता (अस्थानस्थसमासता) सङ्किर्णता, गर्भितत्व, प्रसिद्धिहतत्व, भग्नप्रक्रमता, अक्रमता और अमतपरार्थता। इस प्रकार 21 वाक्य दोष बतलाये। ये दोष केवल वाक्यगत हैं क्योंकि इनके लक्षण का समन्वय वाक्य में ही सम्भव है अन्यत्र नहीं। विश्वनाथ ने 23 वाक्यदोष कहे है। परन्तु मम्मट और विश्वनाथ के वाक्यदोषों की सख्या वस्तुत· समान ही है। मम्मट ने विसन्धि नामक एक ही दोष कहा है, जिस के विश्लेष, अश्लीलत्व तथा कष्टत्व तीन भेद हैं परन्तु विश्वनाथ ने इन तीनों दोषो की गणना अलग अलग की है इसलिए उनके द्वारा परिगणित,दोषों की संख्या 23 हो गई है।

<u>अर्थ दोष</u> – काव्य में वाच्य अर्थ के दोषयुक्त होने पर अर्थदोष होता है। मम्मट और विश्वनाथ दोनों ने ही 23 अर्थदोषों का वर्णन किया है।

मम्मट के अनुसार अर्थ दोष निम्नलिखित है।

1– अपुष्टत्व
2– कष्टत्व
3–व्याहतत्व
4–पुनरुक्तत्व
5–दुष्क्रमत्व
6–ग्राम्यत्व
7–सन्दिग्धत्व
8–निर्हेतुत्व
9–विद्याविरुद्धत्व
10–प्रसिद्धिविरुद्धत्व
11–अनवीकृतत्व
12–सनियमपरिवृत्तत्व
13–अनियमपरिवृत्व
14–विशेषपरिक्वतत्व
15–अविशेषपरिवृतत्व
16–साकाङ्क्षत्व
17–अपदयुक्तत्व
18–सहचरभिन्नत्व
19–प्रकाशितविरुद्धत्व
20–विध्ययुक्तत्व
21–अनुवादायुक्तत्व
22–त्यक्तपुन: स्वीकृतत्व और
23–अश्लीलत्व

रसदोष

रसगत दोषो का निरुपण आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में किया था।[31] परन्तु वह निरुपण उतना व्यवस्थित नहीं था। मम्मट और विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थो में रस दोषो का विवेचन अधिक व्यवस्थित एव तर्कसङ्गत रुप में किया। मम्मट ने 13 रस दोषो[32] का उल्लेख अपनी कारिकाओ में किया था, परन्तु विश्वनाथ ने 14 रसदोष बताये। विश्वनाथ ने 14वां रसदोष अर्थानौचित्य बताया है[33] अर्थानौचित्य को ध्वन्यालोककार ने रसदोष (रसभंग) का एकमात्र कारण कहा था। मम्मट ने अपनी कारिकाओं में "रसे दोषाः स्युरीदृशा" कहकर इस दोष को प्रगट किया तथा 13 रस–दोषों का वर्णन करके ध्वन्यालोककार की अर्थानौचित्य विषयक उक्ति को

उद्धृत करके इस दोष को रसभग का कारण माना है। मम्मट द्वारा कहे गये 13 दोष इस प्रकार है।[34]

1 व्यभिचारी भावों की स्वशब्द वाच्यता

2. रस की स्वशब्द वाच्यता

3 स्थायीभावो की स्वशब्दवाच्यता

4. अनुभावों की कष्ट कल्पना

5 विभावो की कष्ट कल्पना

6 प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण

7 (किसी रस–विशेष की) पुन–पुनः दीप्ति

8. अकाण्डेप्रथन

9. अकाण्डेच्छेद

10 अङ्ग की अतिविस्तृति

11. अङ्गी का अननुसन्धान

12. प्रकृति के औचित्य के प्रतिकूल वर्णन

13. अनङ्ग का अभिधान

इन 13 रस दोषों का वर्णन करके मम्मट ने अर्थानौचित्य रुप रस दोष को प्रदर्शित किया है। जो कि मुख्य रुप से रस भङ्ग का कारण है। इसको विश्वनाथ ने 14 वां रस दोष वर्णित किया है।

प्राचीन आचार्यो ने कुछ अलङ्कार दोषों का भी वर्णन किया था। उनका कथन था कि अलङ्कारो की आयोजना करने में इन दोषो से बचना चाहिये मम्मट[35], विश्वनाथ[36] आदि आचार्यो का मन्तव्य है अलंङ्कार दोषों का अलग से

वर्णन करने की आवश्यकता नही है, क्योकि इनका अन्तर्भाव पहले कहे गये दोषो में ही हो जाता है। तथापि उन्होंने कुछ अलङ्कारदोषो का वर्णन किया भी है तथा साथ में यह भी दिखाया है कि इन दोषों का अन्तर्भाव किस प्रकार पूर्वोक्त दोषों मे हो जाता है।

भरत से लेकर आचार्य विश्वनाथ तक सभी आचार्यो के दोष निरुपण कर चुकने के उपरान्त हम अपने आचार्य रुद्रभट्ट के द्वारा निरुपित काव्य दोषो पर किञ्चित विचार करते है। जैसा कि पूर्व में निरुपित किया जा चुका है, रुद्रभट्ट रसवादी कवि है। इनका आविर्भाव भरत, भामह, दण्डी, वामन, उद्भट और सम्भवत. रुद्रट के बाद हुआ था वही दूसरी ओर ये ध्वनिवादी आचार्यो (सभवत. आनन्दवर्धन को छोडकर) के पूर्ववर्ती थे। अत एक ओर तो इनमे काव्य-दोषो को सीमित रखने की प्रवृत्ति पाई जाती है तो दूसरी ओर ये काव्य दोषों के वर्गीकरण से भी अनभिज्ञ नहीं मालूम होते। ये दोषो के गिनाने के पश्चात् स्पष्टतः स्वीकार करते हैं कि वे रसदोष ही बता रहे है।[37] वे अपने ग्रन्थ के अन्त मे 5 दोषो का उल्लेख करते है जो निम्न प्रकार हैं –

1. विरस
2. प्रत्यनीक
3. दु:संधान रस
4. नीरस
5. पात्रदुष्ट[38]

वे कहते है कि ऐसे दोषों से युक्त काव्य सज्जनों के द्वारा प्रशंसा का पात्र नहीं होता। इन प्रत्येक रसों का एक–एक उदाहरण देकर उन्हें स्पष्ट करने के

उपरान्त आचार्य ग्रन्थ का समापन करते है। इनके प्रत्येक का विवेचन आचार्य निम्न प्रकार से करते हे।

(1) "विरस[39] – हे मुग्धे! अपनी माता के मृत्युशोक को छोड कर मेरे साथ यौवन का आनन्द लो। यह स्पष्ट है।"

विरस दोष का उल्लेख रुद्रट ने भी किया है[40] जो रुद्रभट्ट के सम्मुख निश्चित रुप से उपस्थित था। (यहां पर रुद्रट का रुद्रभट्ट से पूर्ववर्तित्व सिंद्ध हो जाता है।) किन्तु रुद्रट ने इसकी अर्थदोषो मे गणना की थी। रुद्रभट्ट इसका उल्लेख रस दोषो मे कर रहे है अतः इसका वर्णन करने के उपरान्त रुद्रट के मत से 'केचन' इस शब्द के द्वारा असहमति प्रगट करते है।[41] दृष्टव्य है कि रुद्रट विरस को अर्थदोष मानते हुये भी इसका लगभग वैसा ही सोदाहरण निर्वचन करते हैं जिसका निर्वचन रुद्रभट्ट विरस को रसदोष कह कर करते है। अन्तर इतना है कि रुद्रट इसका उदाहरण 'प्रबन्धेषु' से ग्रहण करते है जबकि रुद्रभट्ट रुद्रट का स्पष्ट अनुकरण करते जान पडते है – दोनो के उदाहरण दृष्टव्य है।

अन्यस्य यः प्रसङ्गे रसस्य निपतेद्रसः क्रमापेतः।

विरसोऽसौ स च शक्यः सम्यग्ज्ञातुं प्रबन्धेभ्यः।।

काव्या – 11/12

(किसी भिन्न रस के प्रसङ्ग मे जो अप्राकरणिक रस आ जाता है उसे विरस कहते है वह महाकाव्य आदि प्रबन्धों से भलीभांति जाना जा सकता है।)

उदाहरण

तव वनवासोऽनुचितः पितृमरणशुचं विमुञ्च किं तपसा।

सफलय यौवनमेतत् सममनुरक्तेन सुतनु मया।।

काव्या 11/13

<u>रुद्रभट्ट का उदाहरण</u>

विहाय जननीमृत्युशोकं मुग्धे मया सह।
यौवनमानय स्पष्टमित्यादि विरसं मतम्।।
प्रबन्धे नीयते यत्र रस एको निरन्तरम्।
महतीं वृद्धिमिच्छन्ति विरसं तच्च केचन।।

शृ.ति. 3/75, 76

एक ही शब्दावली को ज्यो का त्यो दुहराकर पुनः 'केचन' कहकर रुद्रभट्ट अपने परवर्तित्व व उपजीविता को लगभग प्रमाणित कर देते है।

"जिस प्रबन्ध मे एक ही रस निरन्तर अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होता है, उसे कोई विद्वान विरस कहते है।"

प्रत्यनीक[42]

(विरुद्ध रस का अनुसन्धान) रति के समय नरवक्षत के कारण छलकते हुये रक्त से परिप्लुत कपोल स्थल वाली उस (नायिका) के मुख को याद कर रहा हूँ।

यहा शृङ्गार रस के प्रसङ्ग में रक्त इत्यादि का उल्लेख करके भयानक या वीभत्स रस, जो शृङ्गार के विरोधी हैं का अनुसन्धान किया है अतः शृङ्गार बाधित होता है।

<u>दुःसंधान रस</u>[43]

हे धूर्त्त तुम उसी अनुचित सम्बन्ध वाली (नाजायज) औरत के पास जाओ, जो तुम्हारे लिये जल गई। मुझसे तुम्हारा क्या काम है।

नीरस[44]

प्रियजन बहुत दुर्जन है, वियोगसन्तप्त उस नायिका का मान एकदम म्लान हो गया और कामभाव क्षीण हो गया।

पात्रदुष्ट[45]

यह वेश्या की कन्या मुग्धा किसी बहाने के बिना ही रति कार्य में निपुण हे। कुल स्त्री हमेशा ढीढ होती है।

इस प्रकार आचार्य रुद्रभट्ट ने केवल रसदोष अपितु केवल शृङ्गार रस के ही दोष दिखलाये है। क्यों न हो आखिर वे शृङ्गारतिलक ही तो लिख रहे है। अन्य रसों में भी ये दोष वर्जित है[46] ऐसा निर्देश करके वे मानो इतने ही रस–दोष निश्चित कर देना चाहते है। इनमे प्रथम विरस उन्होने रुद्रट के अर्थदोष से इसलिये उठा लिया क्योंकि विरस उनके मत से रस दोष होता है अर्थदोष नहीं। 'विरस' इस नाम से भी यही सूचित होता है। लेकिन शेष चार दोष उनकी अपनी मौलिक उपज मालूम होते है।

1. दशरुपक iv/35 की धनिक कृत अवलोक व्याख्या
2. प्रायो नाट्य प्रति प्रोक्ता भरताद्यै· रसस्थिति ।
   यथामति मयाऽप्येषा काव्यं प्रति निगद्यते।। शृति. 1/5
3. बहुत संभव है कि रुद्रट का दशम् रस प्रेयान् इससे समीपता रखता हो।
4. विश्ननाथ चक्रवर्ती ने आनन्दचन्द्रिका अथवा उज्ज्वलनीलमणिकिरण नामक टीकाये लिखी है। ये 17वीं शती के अत तथा 18वीं शती के आरंभ में हुये है।
5. शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य
   वीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्न ।
   आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु
   शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनाम· ।।
6. आचार्य विश्वेश्वर का मत का0प्र0 की व्याख्या पृ0–121
7. रामचन्द्र गुणचन्द्र (द्वादश के उत्तरार्ध में) ने नाट्यदर्पण की रचना की है। नाटक के सन्दर्भ मे उन्होंने रस की व्याख्या की हैं। वैसे विवेचन तो परम्परानुसार ही है किन्तु वे यह मानते है कि रसानुभूति सर्वत्र सुखात्मक ही नही होती। करुण, रौद्र, वीभत्स और भयानक रसों मे यह दुखात्मक भी होती है किन्तु चमत्कार जन्य आनन्द के कारण वह दुःख भी सुखमय लगता है।

   सन्दर्भ– अभिनव रस सिद्धांत–द्वारा– डा0 दशरथ द्विवेदी (गोरखपुर विश्वविद्यालय – संस्कृत विभाग) तृतीय संस्करण सन् 2000, पृ0–401
8. शम का उल्लेख स्थायिभावों में प्रथमतः उद्भट्ट ने अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कार सार संग्रह में किया है, यें दशरुपककार से प्राचीन है अतः यह 'केचित्' उनकी ओर सङ्केत हो सकता है। उन्होंने नाट्येषु नवरसाः" कहा है अतः धनञ्जय ने 'पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य' कहकर इसका खण्डन किया है।

9. ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत्

   आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा।

10 अनुभावों विकारस्तु भावससूचनात्मक ।

11 सुखदु:खादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्।

12 पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्विकाः।

   सत्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम्।।

   दशरुपक 4/4

13 मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः।

   उभयोपयोगिनः स्यु. शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि स.।।

   काव्यप्रकाश 7/49

14 रसापकर्षका दोषाः

15. स्याच्चेतो विशता येन साक्षात् रमणीयता।

   शब्देऽर्थे च कृतोन्मेषं दोषमुद्घोषयन्ति तम्।।

   चन्द्रालोक 1/2

16. व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता। काव्यप्रकाश 7/60

17. न दोषा स्वपदेनोक्तावपिसञ्चारिणः क्वचित्। 7/62

18. सञ्चार्यादेर्विरूद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा। 7/63

19. गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।

   न्यायादपेतं विषयं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः

   भरत नाट्य शास्त्र 16/88

20. भरत नाट्य शास्त्र 16/89—94

21 ग्यारहवे दोष को छोडकर दण्डी ने भामह के साथ अपनी सहमति प्रगट की है तथा दोषो इत्यादि की संख्या तथा परिभाषाओ मे लगभग भामह का अक्षरश अनुसरण किया है।

22 डा0 एस0के0 डे लिखते है "भरत द्वारा प्रयुक्त गूढार्थ शब्द का अभिप्रेतार्थ 'पर्यायशब्दाभिहित' नही है अन्यथा –गूढार्थ' तथा इससे आगे दिये गये दोष एकार्थ में भेद करना कठिन हो जायेगा। सम्भवतः परवर्ती लेखको ने इस दोष को 'पर्यायोक्त' नामक अलङ्कार में निरूपित किया है। अभिनव गुप्त ने भी इसकी इसी प्रकार व्याख्या की है सभवतः परवर्ती आचार्यो ने विशेष सदर्भ मे पर्यायोक्त को एक संभव अलंकार मानते हुये अलङ्कार के रूप में उनका विवेचन किया था। परवर्ती शास्त्रीय अनुशीलन के परिणामस्वरूप अलङ्कारों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि किस प्रकार से हुई यह इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है।"

23. अभिनव ने 'शब्देनावर्णनीयमपि वर्णित' के अर्थो में इसे मानते हुये इसका 'अप्राकृत वर्णन' अर्थ स्वीकार नहीं किया। किन्तु इसका अभिप्राय 'अवर्णस्य वर्णनं' अधिक जचता है। यद्यपि अभिनव ने इसे नहीं माना है। महिमभट्ट (पृ0–100) ने जिस वाच्य वाचन दोष का उल्लेख किया है सम्भवतः वही भरत का अभिप्रेत दोष है। माघ के (1/43) में भी यही दोष है। अभिनव ने रस तथा भाव आश्रित स्वशब्दवाच्यता दोष को भरत के अर्थान्तर दोष के ही अंतर्गत स्वीकार किया है, किन्तु भरत ने इस स्वशब्दवाच्यता दोष को दोष माना भी था यह स्पष्ट नहीं है।

24 अभिनव की व्याख्या इस प्रकार है– अभिप्लुतार्थ यथा स राजा नीति कुशल सर. कुमुदशोभितम्। सर्वप्रिया बसत श्री ग्रीष्मे मालतिकागम ।।इति।। अत्र प्रतिपदमर्थस्य परिसमाप्तावभिप्लुतार्थं, एकवाक्यत्वेन निमज्जनाभावात्।

25. रुद्रभट्ट ने इसे दुःसन्धान रस कहा है।

26. अशब्द– अपशब्द इति अभिनवगुप्त

27 भामह और दण्डी दोनो ने ही कहा है– 'समुदायार्थ शून्य यत्र' उनका कथन है कि सम्पूर्ण अर्थ की यह अपूर्णता किसी वाक्य मे शब्दो की स्वाभाविक अपेक्षा (आकांक्षा) के असंतुष्ट रहने के कारण ही उत्पन्न होती है। वैयाकरण और मीमासक इस विषय पर पहले ही विचार कर चुके है। भामह ने व्याख्या के रूप मे स्वयं कहा है (4/48) आगमोधर्मशास्त्राणी लोकसीमा च तत्कृता तद्विरोधितदाचार व्यतिक्रमणतो।

28 इस विषय में भामह का पाठ प्रयक्षतः अशुद्ध है। अभिनव ने अपने 'लोचन' मे पृ0–82 (ii/2 की व्याख्या) पर पूर्ववर्ती लेखकों द्वारा निरूपित 'श्रुतिदुष्ट तथा श्रुतिकष्ट' के परस्पर भेद की व्याख्या की है।

29. इस दोष के उदाहरण स्वरूप इस प्रकार के शब्द दिये गये है, यथा अजिह्लवत (भामह) अथवा अधाक्षीत अक्षौत्सीत्, तृणेधि (अभिनव, लोचन में उपर्युक्त स्थल पर)

30 रुद्रभट्ट ने भी इसका उल्लेख किया है लेकिन वे इसका अनामतः सन्दर्भ देकर भी इसे रस दोषों के सन्दर्भ उल्लेख करते है।

31. विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः।

विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम्।।

अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्।

परिपोष गतस्यापि पौन पुत्येन दीपनम्।।

रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्यनौचित्यमेव च।

ध्वन्यालोक – 3/18–19

32 अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरूक्तदुष्क्रमग्राम्याः।

सन्दिग्धो निर्हेतु प्रसिद्धिविद्याविरूद्धश्च।।

अनवीकृतः सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ताः।

साकाङ्क्षोऽपदयुक्त सहचरभिन्न प्रकाशितविरूद्ध।

विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुन स्वीकृतोऽश्लील.।।

का0प्र0 7/55–57

33 अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता. स्मृताः। साहित्यदर्पण 7/15

34. व्यभिचारिरसस्थायिभावाना शब्दवाच्यता।।

कष्टकल्पनयाव्यक्तिरनुभावविभावयोः।

अकाण्डे प्रथनच्छेदो अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः।।

अङ्गिनोऽननुसन्धनं प्रकृतीनां विपर्ययः।।

अनङ्गस्याभिधानं रसे दोषाः स्युरीदृशाः।।

का0प्र0 (7/60–62)

35. एषां दोषा यथायोगं सम्भवन्तोऽपि केचन।

उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिता।।

का0प्र0 (10/142)

36. एभ्यः पृथगलङ्कारदोषाणां नैव संभवः – सा0द0 7/15

37. अन्येष्वपि रसेष्वेते दोषा वर्ज्या मनीषिभिः।

यत्सम्पर्कान्न यात्येव काव्यं रसपरम्पराम्।। शृ.ति. 3/81

38 विरसं प्रत्यनीकं च दुःसधान रस तथा।

नीरस पात्र दुष्टं च काव्य सद्‌भिर्न शस्यते। 3/74

39 विहाय जननीमृत्युशोकं मुग्धे मया सह।

यौवनमानय स्पष्टमित्यादि विरस मतम्।। 3/75

40 यः सावसरोऽपि रसो निरन्तर नीयते प्रबन्धेषु।

अतिमहती वृद्धिमसो तथैव वैरस्यमायाति।। काव्या0 11/14

41. प्रबन्धे नीयते यत्र रस एको निरन्तरम्।

महतीं वृद्धिमिच्छन्ति विरस तच्च केचन।। शृ.ति. 3/76

42. नखच्छतोच्छद्रक्तप्लुतगण्डस्थलं रतौ।

स्मरामि वदनं तस्याः प्रत्यनीक मिद भवेत्।।

43. तामेवानुचितां गच्छ ज्वलिता त्वत्कृतेऽत्र या।

किं ते कृत्यं मया धूर्त दुःसधानरस त्विदम्।।

44. दुर्जनो दयितः कामं मानो म्लानो मनोभव।

कृशो वियोगतप्तायास्तस्या इत्यादि नीरसम्।। 3/79

45. मुग्धा व्याजं विना वेश्याकन्येयं निपुणा रतौ।

कुलस्त्री सर्वदा धृष्टा पात्रदुष्टमिदं मतम्।। 3/80

46. अन्येष्वपि रसेष्वेते दोषा वर्ज्या मनीषिभिः।

यत्सम्पर्कान्न यात्येव काव्यं रसपरम्पराम्।। 3/81

रुद्रभट्ट विरचित शृङ्गार तिलक का

आलोचनात्मक अध्ययन

शोध प्रबन्ध

तृतीय अध्याय

शृङ्गार – विवेचन

सम्भोग और विप्रलम्भ

तो काव्य रसमय होता है, यदि वह शृङ्गारी नही है तो काव्य नीरस हो जाता है।[5] भोज ने अपने शृङ्गारप्रकाश ग्रन्थ के छत्तीस अध्यायो मे से कम से कम अठारह अध्यायों में शृङ्गार रस के प्रत्येक पहलू का विस्तृत उदाहरणो द्वारा वर्णन किया है। शृङ्गार की प्रधानता का प्रतिपादन करने वाले भोज जिन शृङ्गारप्रधान ग्रन्थो की शृंङ्खला के आचार्य है, डा0 एस0के0 डे के अनुसार, रुद्रभट्ट उस परम्परा के अग्रगण्य आचार्य एवं कवि है। डा0 डे0 के अनुसार[6] इस समय से रीतिप्रधान शृङ्गारिक ग्रन्थों की एक पूरी शृखला ही प्राप्त होती है जिनमे सर्वप्रथम ज्ञात और महत्वपूर्ण ग्रन्थ रुद्रभट्ट लिखित शृङ्गारतिलक है। इसके पश्चात् भोज का शृङ्गार प्रकाश तथा इसी प्रकार के अनेक ग्रन्थो की रचना की गई जिनका प्रधान वर्ण्य–विषय शृङ्गार है। चूँकि सामान्यतया शृङ्गार रस ही विशेष काव्यात्मक भाव तथा सार्वदेशिक सवेदन का विषय होने के कारण संस्कृत काव्य और नाटक का प्रधान विषय रहा है अतः इन सभी लेखकों ने इस (शृङ्गार) के सभी पहलुओ का विशद विवेचन किया है। आगे इस परंपरा में शारदातनय रचित भावप्रकाशन, शिंगभूपाल रचित रसार्णवसुधाकर भानुदत्त के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ तथा अन्त मे रुप गोस्वामी द्वारा रचित उज्ज्वलनीलमणि का नाम आता है।

रसों की प्रधानता या अप्रधानता का आधार चित्तवृत्तियो को बनाया जाता है। अन्तःकरण में अनादिकाल से सञ्चित वासनाओं या संस्कारों को वर्गीकृत करके स्थायीभावों के नाम दिये गये है। अतः रस के आस्वाद के समय चित्तवृत्ति की विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर रसों की प्रधानता या अप्रधानता निश्चित की जा सकती है। दशरुपककार के अनुसार ये चित्तवृत्तियां चार प्रकार की हो सकती है। विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप। शृङ्गार के अनुभव के समय विकास, वीर

रस के अनुभव के समय विस्तार, वीभत्स की अनुभूति के समय क्षोभ और रौद्ररस की अनुभूति के समय विक्षेप की अवस्था होती है। अत इन चार रसो को प्रधान समझना चाहिये। अन्य चार रस इन्ही से उत्पन्न होते है। श्रृङ्गार से हास्य, वीर से अद्भुत, वीभत्स से भयानक और रौद्र से करुण रस की उत्पत्ति होती है।[7]

रुद्रभट्ट ने सर्वप्रथम स्पष्ट शब्दो में उद्घोषणा की 'श्रृङ्गारो नायको रसः'। वे कहते है चूँकि धर्म से अर्थ की, अर्थ से काम की और काम से सुखफल की प्राप्ति होती है और चूँकि उस सुखफलोदय की प्राप्ति के लिये श्रृङ्गार सबसे अधिक साधक होता है अत. श्रृङ्गार नायक रस है। यद्यपि श्रृङ्गार की प्रधानता का श्रेय अधिकांश विद्वान भोज की ही देते हैं किन्तु इस के नायकत्व (प्रधानत्व) का विवेचन रुद्रभट्ट ने सदियों पूर्व ही कर दिया था। रुद्रभट्ट को आमतौर पर काव्यालङ्कारकर्ता रुद्रट का अनुगामी कहा जाता है, जो ठीक भी है, क्योकि उदाहरण भाग को छोड दे, तो चन्द मतभेदों के साथ लगभग पूरा कारिका भाग काव्यालङ्कार 12 से 15 अध्यायो की अनुकृति है। किन्तु जैसा कि हम प्रतिपादन कर चुके हैं रुद्रभट्ट कुछ स्थानों पर अपना मत रखते है। इसी क्रम में श्रृङ्गार रस का महत्व प्रतिपादन उनका अपना मत है। रुद्रट ने श्रृङ्गार का अलग से कोई महिमामण्डन नही किया। इस सम्बन्ध में महामहिम पी.वी. काणे का मत[8] दृष्टव्य है। वे कहते हैं – "रुद्रट कहते है" तस्मात्तत्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम" ये लेखक (रुद्रटादि) रस के अस्तित्व से भलीभांति परिचित थे लेकिन वे यह निश्चय नहीं कर सके कि इस रस–सिद्धांत का सामान्यतः काव्य में प्रयोग कैसे किया जाए। उनके लिए अलङ्कार काव्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व था, यह इतना महत्वपूर्ण था कि इन्होंने रस का भी अलङ्कारों में अन्तर्भाव कर उसे रसवत्

अलङ्कार के रुप मे परिभाषित किया। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि रुद्रट का अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रति विशेष आग्रह था अत वे रस का महत्व प्रतिपादन करते हुए भी उसे सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व नहीं कहते। रुद्रट को तो काव्य में रस का नायकत्व ही अभीष्ट नही है फिर श्रृङ्गारो नायको रस. तो दूर की बात है। तथापि रुद्रट का यह पद्य उनके श्रृङ्गार को प्रधानता देने की वृत्ति को दर्शित करता है।

अनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्यः सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम।
तदिति विरचनीयः सम्यगेष प्रयत्नाद्भवति विरसमेवानेन हीनं हि काव्यम्।।

काव्यालङ्कार 14/38

रसों में कोई दूसरा रस इस (श्रृङ्गार) की रसनीयता का अनुसरण नहीं कर सकता। बालक से लेकर वृद्ध तक सभी में यह व्याप्त है अतएव काव्य मे इसका बडे प्रयत्न से उपन्यास करना चाहिये। इसके अभाव मे काव्य नीरस हो जाता है।

एक बात तो निश्चयतः कही जा सकती है कि चित्त की प्रथम अवस्था विकास को उद्दीप्त करने के कारण लगभग सभी आचार्यों ने श्रृङ्गार का प्रथममेव उपादान किया हैं फिर चाहे वे भरत हों या दण्डी, भामह हों या उद्भट, रुद्रट हो या अभिनवगुप्त। केवल यही तथ्य श्रृङ्गार का प्राधान्य उपपादन करने के लिए पर्याप्त है। शान्त रस का सर्वाधिक महिमामण्डन करने वाले अभिनवगुप्त स्वयं कहते हैं[9] –

"उन सभी रसों में काम पुरुषार्थ रुप फल होने से और समस्त प्राणियो के हृदय के अनुरुप होने से ...... काम प्रधान श्रृङ्गार रस का निरुपण करते है।"

'अभिनवभारती' नामक अपनी नाट्यशास्त्र की टीका में श्रृङ्गारशब्द की व्याख्या में वे बताते हैं[10] कि जो श्रृङ्गार शब्द की व्युपत्ति मत्वर्थीय 'आरकन्' प्रत्यय

मानकर करते है वे वस्तुत. उसके स्वरुप को ही भूल गये। क्योंकि 'शृङ्गारबृन्दारकाभ्यामारकन्' इस वार्तिक के द्वारा ' शृङ्ग' शब्द से 'आरकन' प्रत्यय का विधान किया गया है, तदनुसार शृङ्ग शब्द से आरकन् प्रत्यय करने पर 'शृङ्गारक' शब्द बनता है 'शृङ्गार' नही। जैसे 'बृन्द' शब्द 'आरकन्' प्रत्यय करने पर 'बृन्दारक' बनता है उसी प्रकार ' शृङ्ग' से 'आरकन्' प्रत्यय करने पर भी शृङ्गारक बनेगा 'शृङ्गार' नही। शृङ्गार शब्द तो "शृङ्गारभृङ्गारौ" इस उणादि सूत्र से निपातन होकर बनता है।

भरतमुनि ने भी शृङ्गार का महिमामण्डन इस प्रकार किया है – "उन रसों में शृङ्गार रस रति स्थायी भाव से उत्पन्न उज्ज्वलवेषात्मक है। ससार में जो कुछ भी शुद्ध, पवित्र, उज्ज्वल और दर्शनीय है उसकी शृङ्गार से उपमा दी जाती है। जो उज्ज्वलवेष है वह शृङ्गारवान कहा जाता है।"[11] इस सम्बन्ध मे आचार्य मम्मट का मत भरत मुनि से कुछ भिन्न नहीं है। वे रसो का नाममात्र कथन करते है जिसके लिये उन्होंने भरत नाट्यशास्त्र की 6–16 कारिका को ज्यों का त्यों उतार लिया है।

शृङ्गार के भेद–प्रभेद – रुद्रभट्ट कृत विभाजन एवं अन्य विद्वानों का तुलनात्मक विश्लेषण

रुद्रभट्ट मूलतः शृङ्गारी कवि है उसके भेद–प्रभेदों का वर्णन ही उनके शृङ्गारतिलक का मुख्य प्रतिपाद्य है। अतएव शृङ्गार के नायकत्व की घोषणा करने के तत्काल बाद वे मुख्य प्रतिपाद्य अर्थात् शृङ्गार के भेदो का उल्लेख करते है। प्रथमत: वे शृङ्गार का द्विधा विभाजन करते है संभोग और विप्रलम्भ। वे कहते है कि परस्पर अनुरक्त स्त्री और पुरुष की जो चेष्टा होती है वह शृङ्गार कहलाता

है।[12] यही चेष्टा संयुक्त होने पर सभोग शृङ्गार तथा परस्पर वियुक्त होने पर विप्रलम्भ नाम से जानी जाती है।[13] अर्थात् स्त्री पुरुष का जब संयोग अवस्था मे परस्पर अनुराग हो तो वहां सयोग या सभोग शृङ्गार होता है। संभोग के बारे में काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट कहते है[14] उनमें से संभोग शृङ्गार परस्पर अवलोकन, आलिङ्गन, चुम्बनादि अनन्त प्रकार का होने से (असख्य होने से) एक ही प्रकार का माना जाता है। किन्तु आचार्य रुद्रभट्ट इन दोनो ही (संभोग और विप्रलम्भ) के पुन दो–दो प्रभेद क्रमश· प्रच्छन्न और प्रकाश को बताते है। इनके अलावा सिर्फ रुद्रट ने ही ये प्रभेद दर्शाये है[15] किन्तु न तो उन्होने इसका विस्तार किया न इनके उदाहरण ही दिये। रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु भी केवल 'पुनरेप्येष प्रभेदकथनम्' कहकर पल्ला झाड लेते है। यद्यपि सभोग विप्रलम्भ और उनके दो–दो प्रभेद कथन से चार उदाहरण मिलाकर कुल छ· उदाहरण पद्य होने चाहिये थे तथापि यह अभिमत है कि आचार्य प्रथम दो उदाहरण सिर्फ संभोग विप्रलाम्भ के नहीं प्रत्युत प्रकाश संभोग व प्रकाश विप्रलम्भ के देते हैं पुनः प्रच्छन्न संभोग व प्रच्छन्न विप्रलम्भ के एक एक उदाहरण देकर इन चार पद्यों मे ही शृङ्गार के भेदो की इतिश्री कर लेते हैं। किन्तु हम द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ मे रुद्रभट्ट को पुनः विप्रलम्भ शृङ्गार के चार प्रभेद पूर्वराग, मान, प्रवास व करुण के रुप में तथा पुनः इनके प्रभेद कहते हुये पाते है।

रुद्रभट्ट व रुद्रट का शृङ्गार विभाजन लगभग एक जैसा ही है। रुद्रट ने भी अपने काव्यालङ्कार चतुर्दश अध्याय में विप्रलम्भ के पूर्वराग, मान, प्रवास व करुण के भेद से चार प्रभेद किये है। नायिका की प्राप्ति उपाय क्रमशः साम, दान और मान एवं दूती प्रेषण व पत्र लेखन को बताया है।[16] इनमें प्रथम तीनों उपाय

नायिका के सहायको सखियो को प्रसन्न करने तथा उनके द्वारा नायिका की प्राप्ति मे सहयोग प्राप्त करने के लिये है। रुद्रभट्ट भी इन्ही उपायो की चर्चा करते है।[17] दोनो विद्वानों मे सिर्फ इतना अन्तर है कि रुद्रट ज्यादा विस्तार न कर के प्रत्युत 'न हि कविना परदारा एष्टव्या' कहकर शास्त्रीय चिन्ताओं मे उलझ जाते है जबकि रुद्रभट्ट का कवि मन शृङ्गार का विस्तार करते हुये नायक नायिका मिलन के लिये स्थान सङ्केत भी करता है। यहां पर रुद्रभट्ट थोडा और मौलिक हुये है। जहा रुद्रट का कथन है कि समस्त उपायो के क्षीण हो जाने पर उसे उनके पित्रादिको से प्राप्त करना चाहिये।[18] स्पष्ट हैं कि उनकी नायिका स्वीया है, अन्यदीया भी हो तो वह कन्या हो सकती है, उढा कदापि नही, क्योकि उसे पित्रादिको से प्राप्त करना, सभव नही है, रुद्रट वेश्या के पक्ष में भी नहीं हैं वही रुद्रभट्ट इस सम्बन्ध में उदारता से काम लेते हैं। उनकी नायिका कोई निश्चित नही (वे वेश्या के पक्ष मे है रुद्रट के एकदम विपरीत) वह स्वीया, अन्यदीया, कन्या या ऊढ़ा कोई भी हो सकती है अतः वे इसे पित्रादिको से प्राप्त करने की सलाह नही देते प्रत्युत समस्त उपायो के निष्फल हो जाने पर उनका नायक किसी अन्य नायिका का अनुसंधान कर सकता हैं।[19] स्पष्ट है कि रुद्रभट्ट शृङ्गार के तकनीकी पक्ष के साथ–साथ उसका व्यवहारिक पक्ष सामने रखते है यद्यपि इस व्यावहारिकता मे शृङ्गार का भाव पक्ष किञ्चित उपेक्षित रह जाता है। क्या यह सम्भव है कि कोई उत्तम प्रकृति नायक, अन्या नायिका की ओर प्रवृत हो जाए? वस्तुतः यह विवाद का विषय है। शृङ्गार तभी होगा जब दोनो पक्ष परस्पर अनुरक्त है। यदि केवल एक पक्ष अनुराग रखे किन्तु दूसरा नहीं, यह शृङ्गार का तकनीकी पक्ष है। अब अगर प्रत्येक उपाय निष्फल हो जाये तो इसका केवल एक कारण हो

सकता है कि अनुराग एकपक्षीय है फिर वह तो शृङ्गाराभास होने लगेगा। दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है कि अनुराग द्विपक्षीय होने पर भी यदि एक पक्ष किसी अज्ञात कारणवश अनुराग प्रदर्शन न करे तो क्या यह शृङ्गाराभास होगा? स्पष्टतः नही। फिर क्या ऐसी स्थिति मे नायक को चाहिये कि वह किसी अन्य नायिका मे प्रवृत्त हो? क्या शृङ्गार का तकनीकी पक्ष ही सब कुछ है? भाव पक्ष कुछ भी नहीं? रुद्रभट्ट इन गहराइयो में नही जाते। उनका शृङ्गार विशुद्ध काम प्राधान्य का अनुसरण करता है। पूर्वराग की अवस्था में (इसे दशरुपककार ने अयोग कहा है) नायक और नायिका की अप्राप्ति (अमिलन) में अभिलााषादि दस अवस्थाये रुद्रट एवं रुद्रभट्ट दोनों का वर्ण्य–विषय है। दोनो की नायिकाओ का मान अन्य स्त्री आदि के नायक के सङ्ग होने से ईर्ष्या से उपजता है और दोनो ही नायिका के मान को दूर करने के छः उपाय साम, दान, भेद, प्रणति, उपेक्षा और प्रसङ्गविभ्रंश को बतलाते है। जहां एक ओर रुद्रट मान के कारण रुपी चार दोष क्रमशः महादोष, मध्यम दोष, स्वल्प मध्यम दोष व महत्तम दोष, बतलाते हैं[20] वही रुद्रभट्ट उस दोष के कारण उत्पन्न मान को 3 प्रकार का बतलाते है क्रमशः गरीयान् या गुरुमान, मध्यम मान व लघुमान।[21] रुद्रभट्ट का कथन है कि कामियों के लिये कष्टसाध्य भी स्त्रियो का सद्यः उत्पन्न क्रोध देश और काल के प्रभाव से सुख साध्य हो जाता है[22] जबकि रुद्रट के अनुसार यह क्रोध देश काल और पात्र के अनुसार असाध्य, सुखसाध्य व दुःखसाध्य तीन प्रकार का होता है।[23] इसके अतिरिक्त प्रवास व करुण विप्रलम्भ पर भी थोड़े बहुत मतभेदों के होते हुये भी दोनों विद्वानों के विचार एक जैसे है।

<u>दशरुपककार का श्रृङ्गार विभाजन</u>

दशरुपककार ने श्रृङ्गार का प्रथमत. विभाजन 3 प्रकार से किया है अयोग, विप्रयोग एव सम्भोग। इनमें से अयोग जिसे रुद्रट, रुद्रभट्ट सहित अनेक विद्वानो ने पूर्वराग कहा है,

दंपत्योर्दशनादेव प्ररुढ़गुरुरागयोः।

ज्ञेया पूर्वानुरागोऽयमप्राप्तौ स भवेद्यथा।।

शृ.ति. 2/2

अर्थात् परस्पर दर्शन से ही प्ररुढ और महान प्रेम वाले नायक और नायिका का पूर्वानुराग समझना चाहिये। यह पूर्वानुराग अप्राप्ति (प्राप्ति या मिलने से पूर्व की अवस्था) में होता है।

जैसे – इसका उदाहरण देते है।

किं चन्दनै रचय मा च मृणालशय्यां

मा मा ममालि धनु कोमलतालवृन्तम्।

मुञ्चाग्रहं विकच पङ्कजयोजनेषु

तत्संगमः परमपाकुरुते स्मराग्निम्।।

शृ.ति. 2/3

(हे सखी! चन्दन लगाने से क्या लाभ, मृणाल की शय्या मत बनाओं, कोमल ताड़ का पंखा मत झलों, प्रफुल्ल कमलों को लगाने का आग्रह छोड़ो, क्योंकि मेरी कामाग्नि को प्रिय का सङ्गम ही दूर करेगा) यह पूर्वानुराग (या पूर्वराग या विश्वनाथादि के मत में अयोग) की स्थिति में नायिका का वर्णन है, इसी प्रकार

रुद्रभट्ट शृ.ति 2/4 अर्थात् अगले पद्य मे इसी प्रकार की नायक की नायक की अवस्था का वर्णन करते है।

पूर्व राग उस अवस्था को कहते है जब नायक और नायिका परस्पर अनुरक्त तो होते हैं किन्तु उनका अयोग अर्थात् अमिलन रहता है।[24] संभोग व विप्रलम्भ परस्पर विपरीत होते है तथा अन्योन्याश्रित भी। जब संयोग ही नहीं हुआ तब विप्रयोग या विप्रलम्भ कैसा। धनिक अपनी अवलोक टीका मे लिखते है कि योग का मतलब है नायक और नायिका द्वारा एक दूसरे को स्वीकार कर लेना। उसका अभाव ही अयोग कहलाता है। उस अयोग की दश अवस्थाये दशरूपककार मानते है[25] जो क्रमश: हैं – अभिलाष, चिन्तन, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, संज्वर, जडता और मरण। ये दश अवस्थाये रुद्रट एवं रुद्रभट्ट ने पूर्वराग मे मानी है जो विप्रलम्भ का एक प्रभेद है।

विप्रलम्भाभिधानोऽयं शृङ्गार स्याच्चतुर्विधः।
पूर्वरागो मानाख्यः प्रवासः करुणात्मकः।।

शृ.ति. 2/1

पुनश्च दशरुपककार शृङ्गार के दूसरे भेद विप्रयोग के बारे में कहते है कि जिनका गाढ अनुराग होता है ऐसे नायक और नायिका का पृथक हो जाना विप्रयोग होता है।[26] अवलोककार इसे और स्पष्ट करते हैं कि 'प्राप्तयोरप्राप्तिर्विप्रयोगस्तस्य' अर्थात् एक दूसरे को प्राप्त कर लेने वाले नायक नायिका का अलग होना ही विप्रयोग है। पुनः धनञ्जय आचार्य विप्रयोग के दो भेद करते है मान विप्रयोग और प्रवास विप्रयोग। अब मान विप्रयोग को दो प्रकार का कहा – प्रणयमान और ईर्ष्यामान। प्रणयमान कभी नायकगत, कभी नायिकागत

तथा कभी उभयगत होने से 3 प्रकार का होता है। जबकि ईर्ष्यामान केवल नायिकागत ही होता है। इस मान के शमन के छ उपाय उन्होंने भी सामदानादि बताये है। प्रवास विप्रयोग कार्यात्, शापात् और सम्भ्रमात् के भेद से तीन प्रकार का होता है। इसी क्रम मे दशरुपककार यह भी दिखलाते हैं कि प्रिय की अन्यासक्ति का अनुमान नायिका को तीन प्रकार से प्रत्यक्ष होता है। उत्स्वन्नायित, भोगाङ्कानुमित तथा गोत्रस्खलनकल्पित इन तीनो के वे उदाहरण भी देते है। उत्स्वप्नायित अर्थात् नींद में स्वप्न इत्यादि के कारण बडबडाने से नायिका नायक के मुख से किसी अन्या का नाम सुन ले। भोगाङ्कानुमति अर्थात् नखक्षत, दन्तक्षत आदि के चिह्न को देखकर अन्यासक्ति का अनुमान लगा ले या फिर गोत्रस्खलन से अभिप्राय है कि नायक धोखे से या हडबडी मे अपनी अन्य प्रेमिका का नाम नायिका के सामने बोल जाये तो।

मम्मट का शृङ्गारविभाजन

भावप्रकाशन और दशरुपक के रचनाकारों के सिवाय लगभग सभी आचार्यो ने शृङ्गार का द्विधा विभाजन संभोग और विप्रलम्भ के रुप में किया हैं। आचार्य मम्मट ने भी इसी परम्परा का पालन करते हुये लिखा है,

"तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौं, सम्भोगो विप्रलम्भश्च।"

इनमें से प्रथम संभोग का एक ही प्रभेद होता है क्योंकि उन्हीं के शब्दो में "तत्राद्यः परस्परावलोकनालिङ्गनाधरपानपरिचुम्बनाद्यनन्तभेदत्वात् अपरिच्छेद्य इत्येक एव गण्यते।"

किन्तु दूसरे अर्थात् विप्रलम्भ के उन्होंने पांच प्रकार बताये हैं[27]– अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास एवं शापहेतुक। इनमें से दशरुपककार ने अयोग में तथा अन्य

विद्वानों ने पूर्वराग या पूर्वानुराग के क्रम मे नायक और नायिका की अप्राप्ति की स्थिति मे जो दश कामदशाओ का वर्णन किया है अभिलाष उनमे प्रथम परिगणित है। विश्वनाथ ने पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण के अतिरिक्त एक और विरहोपधिक अवस्था मानी है[28] और अभिलाषादि का उसमे परिगणन किया है। ईर्ष्या की अन्य विद्वानो ने मानविप्रयोग मे गणना की है ˙ एवं प्रवास को विश्वनाथ एवं दशरुपककार आदि विद्वानों ने शाप से, कार्य से ,सम्भ्रम से तीन प्रकार का माना है। आचार्य मम्मट ने करुण विप्रलम्भ की चर्चा नही की है जिस से सङ्केत मिलता है कि आचार्य मम्मट ने करुण विप्रलम्भ नामक शृङ्गार का कोई भेद नही माना है। उनके मत में यह करुण रस की सीमा के अन्तर्गत है। हां, मिलन निश्चित व प्रामाणिक हो यथा कादम्बरी के महाश्वेता वृतान्त मे तो, आकाश वाणी हो जाने के पश्चात् उसे कथञ्चित विप्रलम्भ माना जा सकता है।

आचार्य विश्वनाथ का शृङ्गारविभाजन

आचार्य विश्ववनाथ ने प्रथमतः शृङ्गार के दो विभाजन किए सभोग और विप्रलम्भ।[29] इनमें प्रथम निदर्षन वे विप्रलम्भ का ही करते हैं क्योकि उनके अनुसार विप्रलम्भ शृङ्गार के बिना संभोग परिपुष्टि को नहीं प्राप्त होता[30] क्योकि वस्त्रादि के कषायित कर लेने पर (कपडे को रंगने से पहले अनार के छिलके के काढे में डुबाते हैं इसी को कषायित करना कहते हैं) रंग अच्छा चढ़ता है। अतः वे विप्रलम्भ को बताते हैं कि जहां पर रति तो प्रकृष्ट हैं किन्तु अभीष्ट (व्यक्ति) किसी कारण से प्राप्त नहीं होता है तो वह विप्रलम्भ शृङ्गार हैं।[31] ओर वह पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुणात्तमक प्रकार से चार प्रकार का होता है। रुद्रभटट् और रुद्रट के विप्रलम्भ में भी ये ही चार भेद बताए गए हैं किन्तु इसके अनन्तर

आचार्य विश्वनाथ इन चारों की न सिर्फ परिभाषाये देते है अपितु उनके भेद–प्रभेद भी सोदाहरण देते हैं। विश्वनाथ अभिलाषदि दश कामदशाओ तथा मान दूर करने के सामदानादिक छः उपायो का भी विस्तृत एव सोदाहरण निर्वचन करते है किञ्चित विशिष्टताओ के अतिरिक्त इनका शृङ्गार–विभाजन पूरी तरह से दशरुपककार जैसा ही है। ये अयोग नामक भेद नही मानते ओर पूर्वराग के इन्होने नीलीराग, कुसुम्भराग तथा मजिष्ठाराग[32] नामक तीन और प्रभेद गिनाये हैं। नीलीराग वह अनुराग है जो न तो अत्यंत शोभित होता है (चेष्टादिक वाहय रुपी भावों को प्रकाशित करके दिखावा करता है) न कभी (प्रेम) नष्ट होता है[33] (अर्थात् जिस प्रकार नील वृक्ष के द्रंव से रञ्जित वस्त्रादि का रग जलदि से न तो नष्ट होता है और न ही अत्यधिक शोभ पाता है) जैसे श्रीरामचन्द्रजी और सीता जी का। (2)कुसुम्भ राग वह राग होता है जो शोभित बहुत हो पर हृदयसे जाता रहे, (जिस प्रकार कुसुम्भ फल के द्रव से रञ्जित वस्त्रादि का रग ाजलादि से विनष्ट हो हो जाता है, किन्तु जब तक रहता है अत्यंत शोभित होता है) जैसे देवहुति और तपस्वी कर्दम का अनुराग।[34] (3)मञ्जिष्ठाराग वह राग है जहां नायक नायिका गत प्रेम विशेष विघ्नों के उपस्थित होने पर भी हृदय से नहीं जाता है और अत्यधिक शोभित होता है । (जिस प्रकार प्रसिद्ध मंजीठ के द्रव से रञ्जित वस्त्रादिकों का रंग किसी प्रकार भी दूर नहीं हो है और अत्यधिक शोभा पाता है) यथा श्रीकृष्ण ओर राधिका का अनुराग, इसी प्रकार मञ्जिष्ठाराग के अन्य उदाहरण जैसे रघु के पुत्र अज का इन्दुमती के साथ अनुराग अथवा निषधाधिपति नल का विदर्भराजपुत्री दमयन्ती के साथ अनुराग। इन दोनों उदाहरणों में दोनों का पारस्परिक अनुराग यावज्जीवन विद्यमान रहा। आचार्य विश्वनाथ ने केवल

नीलीराग का ही उदाहरण दिया है जिससे सङ्केत मिलता है कि ते नीलीराग को ही सर्वश्रेष्ठ राग मानने के पक्ष मे है । पूर्वराग के पश्चात मान उन्होने दो प्रकार का बताया है। प्रणयमान और (सपत्नी आदि के उत्कर्ष को सहन न करने के कारण ईर्ष्या से उत्पन्न होने वाला) ईर्ष्यामान। उनमें प्रणयमान नायकगत, नायिकागत तथा उभयगत के भेद से तीन प्रकार का है ईर्ष्यामान केवल नायिकागत ही होता है पति की अन्य के प्रति आसक्ति से ईर्ष्यामान उत्पन्न होता है। इस अन्यासक्ति का ज्ञान दृष्टे (देखकर) अनुमिते (अनुमान कर) तथा श्रुते (सुनकर) तीन प्रकारो से होता है। इनमे भी अनुमिति तीन प्रकार की होती है उत्स्वप्नायित, भोगाङ्क तथा अचानक नायक के मुख से नायिका का नाम निकल जाने से गोत्रस्खलनसंभवी अनुमिति होती है।[35] ईर्ष्यामान का यही वर्णन दशरुपककार ने भी किया है। पूर्वराग और मान के पश्चात विश्वनाथ ने प्रवास के तीन भेद किए हैं कार्यात, शापात् और सम्भ्रमात्। इनमें भी प्रथम कार्यज प्रवास के पुनः भावी (भविष्य कालिक) भवन् (कालिक) एवं भूत (कालिक) ये तीन भेद है वे सिर्फ कार्यज प्रवास का ही त्रैविध्य बताते है[36] शापज और सम्भ्रमज प्रवास के नहीं। इसका कारण वे बताते हैं "कार्यस्य बुद्धिपूर्वकत्वात्त्रैविध्यम्।" अर्थात् कार्य के बुद्धिपूर्वक होने के कारण (स्वेच्छया होने के कारण) कांर्यज प्रवास तीन प्रकार का होता है। यदि कार्य अतीतकाल में स्वेच्छया हुआ है तो भूतकालीन प्रवास होगा। वर्तमान कालिक कार्य होने पर वर्तमान प्रवास होगा और यदि भविष्य में कार्य होना हो तो भविष्यत् कालिक प्रवास होगा। 'शापज' और संभ्रमज प्रवास के ये भेद इसलिए नहीं होते क्योंकि इनमे दूसरे की इच्छा प्रधान होती हैं और स्वेच्छा का अभाव होता है। अतः केवल परेच्छानुसारी होने के कारण तत्तत्काल सम्बन्धी होता है। अतः ये तीन प्रकार के न होकर एक ही प्रकार के होते हैं इस प्रकार

कार्यज प्रवास भिन्न देश मे जाने की सम्भावना होने पर 'भावी' निश्चय होने पर 'वर्तमान' और हो चुकने पर 'भूत' प्रवास होता है। इन दोनो 'शापज और सम्भ्रमज' प्रवास के अन्दर सम्भावना और निश्चय का अभाव होने के कारण ये एक प्रकार के होते हैं। विश्वनाथ इन सभी भेद प्रभेदो के यथास्थान उदाहरण भी देते है। शापज प्रवास के उदाहरण में मेघदूत का 'तां जानीथाः' इत्यादि उदाहरण देते हैं। पुनश्च सम्भ्रमज के उदाहरण देने से पहले सम्भ्रज को स्पष्ट करते हुए कहते हैं–दिव्य [37] (देवता, विद्युत और उल्कादि) मानुष (मर्त्यलोक मे होने वाले भूकम्पादि) और निर्घात– (वायु से ताडित– यह उपलक्षण है अतः नाभस का भी ग्रहण होना चाहिए) के उत्पात आदि से (आदि पद से उन्मादादि का ग्रहण होता है।) उत्पन्न होने वाला सम्भ्रम (त्वरा) कहलाता है। आचार्य विश्वनाथ यहां केवल दिव्योत्पन्न सम्भ्रम के रुप में पुरुरवा और उर्वशी के मेषापहरण दृश्य का उदाहरण देते हैं।

जहां तक करुण विप्रलम्भ रस की बात आती है इस विषय पर सभी विद्वानों ने अपने अपने मत दिए हैं। जहां रुद्रट और रुद्रभट्ट नायक और नायिका में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर भी शृङ्गार का करुण–विप्रलम्भ नामक भेद स्वीकार करते हैं वहीं आचार्य विश्वनाथ का मत इससे विपरीत हैं। उनके मत में नायक और नायिका में से किसी एक के मृत हो जाने पर अन्यतर का जो प्रलाप होता है, वह करुण विप्रलम्भ माना जायेगा अगर उसे उसका वह प्रियपात्र उसी शरीर से पुनः प्राप्त होने वाला हो।[38] (पुनर्लभ्ये हो तो) किन्तु पुनः प्राप्त होने की सम्भावना अगर न हो या शरीरान्तर प्राप्ति (अन्य शरीर के द्वारा प्राप्त होना हो, उस शरीर के द्वारा प्राप्त न हो) हो तो वह करुण रस माना जायेगा। (पुनरलभ्ये शरीरान्तरेण वा लभ्ये तु करुणाख्य एवं रसः) इसके उदाहरण

मे आचार्य विश्वनाथ बाणभट्ट कृत कादम्बरी में वर्णित पुण्डरीक और महाश्वेता के वृत्तान्त का उल्लेख करते है। यद्यपि कथा के पूर्वभाग मे पुण्डरीक की मृत्यु हो जाती है। तथापि चूँकि वह आकाशवाणी के द्वारा पुन उसी शरीर में प्राप्त होगा ऐसी घोषणा होने पर यह करुण विप्रलम्भ का उदाहरण होगा।

अब रुद्रभट्ट के शृङ्गार भेदो की पुन चर्चा करते हैं। रुद्रभट ने प्रथमत संभोग और विप्रलम्भ दो भेद करके उनके दो दो भेद क्रमश· प्रकाश और प्रच्छन्न नाम से किए हैं।[39] (1) इस प्रकार चार प्रकार का शृङ्गार प्रथमतः होता हैं। ये क्रमशः है प्रकाश संभोग और प्रच्छन्न सभोग तथा प्रकाश विप्रलम्भ और प्रच्छन्न विप्रलम्भ। इनमें प्रकाश संभोग और प्रच्छन्न विप्रलम्भ अति सामान्य हैं अतः रुद्रभट इनके प्रथम उदाहरण देकर अनन्तर प्रच्छन्न सभोग और प्रकाश विप्रलम्भ के उदाहरण देते हैं। इस प्रकार रुद्रभट्ट ने शृङ्गार के चार भेद (दो भेद एवं दो प्रभेद) किए हैं और उन चारों के ही उदाहरण दिए हैं।

प्रकाश संभोग

आचार्य रुद्रभट्ट ने इनमें से किसी का लक्षण नही किया है किन्तु नाम से तथा इनके इसके लिए दिए गए उदाहरण से ही यह बात लगभग सिद्ध है कि जहां नायक—नायिका के संयोग (आलिङ्गन, अधरपान, चुम्बनादि रति क्रीडाओ) का प्रत्यक्ष वर्णन हो वहां प्रकाश संभोग होता हैं। जैसे रुद्रभट्ट का ही यह उदाहरण[40]—मदोन्मत्त हाथी के मस्तक के तट के समान दोनों स्तनों के चारों ओर स्फुरणशील अंगुलियों वाले प्रिय के नखक्षत करने वाले वाम (प्रतिकूल या बुरे) हाथ को भी प्रिया ने दक्षिण (अच्छा, अनुकूल) ही माना।

प्रच्छन्न संभोग

प्रकाश (प्रगट) सभोग के ठीक विपरीत प्रच्छन्न (गुप्त) संभोग होता है। इसमें संभोग वर्णन प्रत्यक्ष नही अपितु परोक्ष होता है। किन्तु बिम्ब–विधान इत्यादि के माध्यम से वह प्रत्यक्ष कराया जाता है। रुदभट्ट ने इसका उदाहरण निम्न प्रकार से दिया हैं।[41]

"विभिन्न (या विचित्र) प्रकार के सुरत व्यपारों से प्रिय के प्रेमपूर्वक संलग्न से जाने पर मृग शावक के समान आखो वाली (नायिका) ने गुप्त संकेतस्थल पर भी रस से ऐसा शब्द किया कि उनका शयनीय स्थान बहुसख्यक लवा पक्षियों के कूजन से युक्त हो गया।"

ऐसा प्रतीत होता है कि जारज–संभोग को ही प्रच्छन्न–संभोग का नाम दिया गया हैं।

प्रकाश विप्रलम्भ

जो विप्रलम्भ प्रगट हो, अपने लक्षणों द्वारा स्पष्ट व्यक्त हो रहा है अथवा व्यक्त करने योग्य हो (किसी प्रकार के सामाजिक सङ्कोच इत्यादि का बाध न हो) वह प्रकाश विप्रलम्भ होता हैं जैसे रुद्रभट्ट का ही उदाहरण[42] :– "उस मृगनयनी की केले के समान ग्रीवा को कुछ टेढी कर देने से चलायमान बडे–बड़े स्तनों के आवर्त्तन रुप व्यायाम से शोभित चोली, उस (नायिका) का वह अवलोकन, काम को बढाने वाली चातुर्यपूर्ण, मुग्ध, और मधुर वे बातें, ये सभी अभिमत (अभीप्सित) क्रियांए बड़े पुण्य से प्राप्त होती हैं। अरे मन! तुम उन्हें स्मरण कर रहे हो क्या?"

"हे मन! तुम उन्हें स्मरण कर रहे हो क्या?" ऐसा प्रश्न करने से वियोग या विप्रलम्भ प्रगट (प्रकाशित) हो गया अर्थात् यह निश्चय हो गया कि यहां वियोग है क्योंकि स्मरण तो उसी का संभव है, जिस से वियुक्त हों। जो प्रव्यक्ष

होगा उसके स्मरण का क्या औचित्य हो सकता है। अत: इसे प्रकाश (प्रगट) विप्रलम्भ कहा गया हैं।

प्रच्छन्न विप्रलम्भ

उपर्युक्त के विपरीत, अर्थात् जब विप्रलम्भ किन्ही चिन्ह विशेषों से लक्षित होता हो, अनुमानित होता हो, तो वहां प्रच्छन्न विप्रलम्भ होता है[43]जैसे –

अपने प्रिय के वियोग से दु:खित इस (नायिका) का अधर रागिता (अनुराग या ललाई) की छोडकर इस समय मानों प्रचण्ड अग्नि एवं जल वाले कठिन व्रत का आचरण कर रहा है, जो (अधर) काम का प्रवेश होने से विवश और पञ्चम् उद्गार (स्वर) के श्रवण से आवर्तित (विवृद्ध) उष्ण उच्छवासों से बार–बार सन्तप्त तथा चारो ओर से गिरते हुए नेत्र जल से सिक्त हो रहा है।"

इसमें नायिका के अधरों से ललाई गायब हो जाने, अधरो के सन्तप्त रहने दीर्घ श्वास–प्रश्वास के आवागमन से तथा उष्ण उच्छवासों से तथा नेत्र से गिरने वाले अश्रुओ से, इन सभी चिह्नों से विप्रलम्भ स्वाभाविक रुप में व्यक्त हो रहा है। उसकी व्यक्ति (प्रगटीकरण) के लिए किसी अन्य शब्द की आवश्यकता नही है अत: यहां प्रच्छन्न विप्रलम्भ हैं।

यह जो दो प्रकार के विप्रलम्भ दिखाए वे सिर्फ उस वियोग के प्रगटीकरण की अवस्थाएं कही जा सकती है वस्तुतः विप्रलम्भ कितने प्रकार का होता है तथा उसके अन्य भेद–प्रभेदों पर अब विस्तृत रुप से विचार करेंगें।

विप्रलम्भ शृङ्गार

दशरुपक की अपनी अवलोक टीका में धनिक स्पष्ट करते हैं – "दत्वा सङ्केतमप्राप्तअवध्यतिक्रमे साध्येन नायिकान्तरानुसरणाच्च विप्रलम्भशब्दस्य

मुख्यप्रयोगो वञ्चनार्थत्वात्।"[44] (1) अर्थात् जब किसी स्थान पर जाने का सङ्केत देकर नायक वहां नहीं पहुँचता (अप्राप्ते), समय की अवधि बीत जाती हैं और नायक के द्वारा साध्ये दूसरी नायिका का अनुसरण कर लिया जाता है, उस अर्थ मे विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसका मुख्य अर्थ है वञ्चना। धनिक के अनुसार दशरुपककार ने इसी कारण से विप्रलम्भ के स्थान पर अयोग और विप्रयोग ये शब्द प्रयुक्त किए हैं। यद्यपि आचार्य भरत ने श्रृङ्गार के दो भेद किए है [45] संभोग तथा विप्रलम्भ। फिर ये प्रश्न उत्पन्न हो सकता था कि धनञ्जय ने विप्रलम्भ क्यों नही कहा? (भरत के विप्रलम्भ में आयोग तथा विप्रयोग दोनो को ही कहा गया है) अतः धनिक के मत में विशेष प्रकार के अयोग तथा विप्रयोग ही विप्रलम्भ है। क्योंकि फिर सभी प्रकार के अयोग तथ विप्रयोग को सामान्य रुप से बतलाने के लिए यदि विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग किया जायेगा तो वह मुख्य अर्थ में नही होगा अपितु औपचारिक होगा और मुख्य अर्थ के सम्भव होने पर औपचारिक अर्थ का प्रयोग करना दोष माना जाता है।

अन्य आचार्यो ने विप्रलम्भ शब्द को पारिभाषिक माना है अतः उन्होंने अयोग तथा वियोग दोनों के लिये इस शब्द का प्रयोग किया है।

यथा परस्परानुरक्तयोरपि विलासिनोः पारतन्त्र्यादेरघटनं चित्तविश्लेषो वा विप्रलम्भः।[46]

वस्तुतः विशेष अर्थ का वाचक शब्द सामान्य अर्थ में उपचरित (लाक्षणिक) हो जाया करता है, जैसे 'काकेभ्यों दधि रक्ष्यताम्' यहां 'काक' पद 'दध्युपघातक समस्त जीवों' के अर्थ में लाक्षणिक माना जाता है। इसी औपचारिक या सामान्य

अर्थ मे अधिकांश आचार्यों की भाति हमारे आचार्य रुद्रभट्ट ने भी 'विप्रलम्भ' इस शब्द का प्रयोग किया है।

रुद्रभट्ट के मतानुसार यह विप्रलम्भ नामक श्रृङ्गार चार प्रकार का होता है।

1. पूर्वानुराग
2. मान
3. प्रवास
4. करुणात्मक

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप के हेतु से पाच प्रकार का विप्रलम्भ श्रृङ्गार बतलाया है।[47] नाट्य दर्पणकार ने मान, प्रवास, शाप, ईर्ष्या और विरह ये इसके पाच भेद माने है।[48] तथा साहित्यदर्पण मे पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण विप्रलम्भ ये चार भेद माने है। दशरुपककार ने सर्वप्रथम विप्रलम्भ के स्थान पर अयोग और विप्रयोग[51] दो शब्द रखे हैं। उनमे अयोग[49] को हम काव्यप्रकाशकार के अभिलाष या फिर साहित्यदर्पणकार के पूर्वराग या रुद्रभट्ट के पूर्वानुराग की भांति मान सकते हैं। विप्रयोग के प्रथमत मान एव प्रवास दो भेद माने है। (करुण विप्रलम्भ नाम का कोई रस दशरुपककार के मत में नहीं होता)[50] मान को पुनः दो प्रकार का माना है प्रथम प्रणयमान और द्वितीय ईर्ष्यामान। प्रणयमान[52] तीन प्रकार का है नायकगत, नायिकागत व उभयगत तथा ईर्ष्यामान यद्यपि नायिकागत ही होता है तथापि इसकी (नायक की किसी अन्य नायिका में आसक्ति को सुनकर, अनुमान करके या देखकर उसकी नायिका को जो कोप होता है वह ईर्ष्यामान कहलाता है)[53] अनुमिति तीन प्रकार से होती है

उत्स्वप्नायित (नीद मे बडबडाने से कोई अन्या नायिका का नाम पुकार दें) भोगाङ्क = अन्या नायिका से सहवास के कोई चिह्न दिख जायें अथवा गोत्रस्खलन = असावधानी से अपनी नायिका के स्थान पर अन्या नायिका का नाम कह दें। प्रवास से होने वाला वियोग भी तीन प्रकार का माना गया है। कार्यात्, शापात् तथा संभ्रमात्।

पूर्वानुराग

रुद्रभट्ट के मत में – "परस्पर दर्शन से ही प्ररुढ और महान प्रेम वाले नायक और नायिका का पूर्वानुराग समझना चाहिये। यह (पूर्वानुराग) अप्राप्ति (प्राप्ति या मिलने से पूर्व) की अवस्था में होता है।"[54]

जैसा कि पूर्व मे वर्णित किया जा चुका है कि साहित्यदर्पणकार इसे पूर्वराग, काव्यप्रकाशकार अभिलाष तथा दशरुपककार अयोग कहते है। इन सभी की भांति (मम्मट को छोडकर) रुद्रभट्ट ने पूर्वानुराग की अवस्था में (नायक नायिका की अप्राप्ति की दशा में) मे काम की दश अवस्थायें मानी हैं।[55] ये क्रमशः हैं – अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण।[56]

दशरुपककार धनञ्जय ने भी ये ही दश अवस्थायें मानी हैं[57] सिर्फ व्याधि नामक अवस्था को संज्वर कहकर पुकारा है। अर्थतः दोनों एक ही है। अन्त में वे 'दुखस्थ यथोत्तरम' कहते हैं अर्थात् ये दशों अवस्थायें उत्तरोत्तर अधिक दुःखप्रद होती हैं।

वैशिकशास्त्रकारैश्च दशावस्थोऽभिहितः ना०शा० (6/45 से आगे गद्य प्र० 309 तथा अध्याय 22) भावप्रकाशन (प्र० 85) प्रतापरुद्रीय पृ० 191 में 12 दशाओं का वर्णन है। उनके नाम तथा क्रम में भी भेद है। सा०द० (3/189–194) इनके

अतिरिक्त रसमञ्जरी आदि साहित्यशास्त्र के ग्रन्थो मे तथा कामसूत्र आदि मे भी कामदशाओ का वर्णन किया गया है।

(1) अभिलाष – रुद्रभट्ट के अनुसार जिस अवस्था मे सकल्प से व्याकुल चित्त होने के कारण मिलन की आशा से उद्योग होता है, उसे अभिलाष[58] कहते हैं। दशरुपककार के मत में[59] जो किसी सर्वांग सुन्दर प्रिय का दर्शन होने पर या उसके विषय मे सुनकर उसके प्रति इच्छा (चाह) होती है वह अभिलाषा है, उसमें विस्मय, आनन्द तथा सम्भ्रम (साध्वस) ये तीन अनुभाव हुआ करते हैं। अभिलाष परकीया को ही होता है क्योकि उसके बारे में (परकीया–कन्या व ऊढा के बारे मे) कहा है कि ये दोनो देखने या सुनने मात्र से ही अनुरक्त हो जाती है।[60] इनमें सुनने का उदाहरण भी रुद्रभट्ट देते है[61] तथा देखने का भी[62] दशरुपककार ने इसी प्रसङ्ग में प्रिय को साक्षात्, चित्र में, स्वप्न में, छाया में, अथवा माया के द्वारा कही है[63] तथा उसका श्रवण (श्रुति) सखी, गीत तथा मागध आदि द्वारा गुणकीर्तन आदि से बताया है[64] रुद्रभट्ट ने भी कहा है कि प्रिय का दर्शन साक्षात्, चित्र में या स्वप्न में तीन प्रकार से होता है तथा उसी प्रकार उसका श्रवण देश में, समय पर या हाव–भाव से होता है, यह बताया है।[65] रुद्रट का भी यही मत है।[66] साहित्यदर्पण में अभिलाष को स्पृहा कहा गया है[67] साहित्यर्पणकार[69] का भी यही मत है।

(2) <u>चिन्ता</u> – 'वह प्रिय कैसे प्राप्त होगा?' 'उसकी प्रसन्नता के लिये मैं क्या करुँ' 'वह मेरे वश में कैसे हो?' इस प्रकार के विचारों को चिन्ता कहते हैं।[68] साहित्यदर्पणकार के शब्दों में चिन्ता प्राप्त्युपायादिचिन्तनम् अर्थात् प्राप्ति के उपायादि चिन्तन को चिन्ता कहते है।

(3) स्मृति – जब अन्य कार्यो के प्रति द्वेष होता है, मन उसी (नायक) में एकाग्र रहता है, श्वासों और मनोरथों से ही चेष्टा होती है तो ऐसी अवस्था को स्मृति[71] या स्मरण कहते है।[70]

(4) गुणकीर्तन – सुन्दरता, हंसी और बातचीत करने में उसके समान दूसरा युवक नहीं है, इस प्रकार की बात जब हो, तो उसे गुणकीर्तन[72] कहा जाता है।

(5) उद्वेग – जब न कुछ अच्छा लगे न बुरा, कुछ भी आनन्ददायक न मालूम हो, जीने में भी घुटन मालूम हो तो उसे उद्वेग[74] कहते है।[73]

(6) प्रलाप – अत्यन्त उत्सुकता से जब मन बहुत अधिक इधर–उधर घूमता है और प्रियतम से सम्बन्धित ही वाणी निकलती है, तो उस अवस्था को प्रलाप कहते है।[75]

साहित्यदर्पण में कहा है अलक्ष्यवाक्प्रलापः स्याच्चेतसो भ्रमण्त भृशम्। अर्थात् चित्त के अभीष्ट के प्रति अत्यधिक गमन से जो लक्ष्य शून्य वचन है वह प्रलाप होता है।[76]

(7) उन्माद – जब श्वास (दीर्घनिःश्वास), रोने, कम्पन, जमीन पर कुछ लिखने इत्यादि से उपलक्षित व्यापार होते है, तो उस अवस्था को उन्माद कहते है।[77]

(8) व्याधि – जिसमें बहुत सन्ताप और कष्ट होता है, दीर्घ निःश्वास निकलते है, शरीर कृशित हो जाता है, वह व्याधि नामक आठवीं अवस्था है।[78]साहित्यदर्पणकार ने भी व्याधि का लक्षण दिया है –

"व्याधिस्तु दीर्घनिःश्वासपाण्डुताकृशतादयः"

(9) <u>जड़ता</u> – बिना किसी बात के हुकारी भरना, निश्चल दृष्टि होना, स्मरणशक्ति का समाप्त होना, अधिक सांस चलना, शारीरिकि कृशता, ये सब बाते जब हों तब जडता नामक अवस्था होती है।[79] साहित्यदर्पणकार के शब्दों में –

"जडता हीनचेष्टत्वमङ्गानां मनसस्तथा"

(10) मरण – रुद्रभट्ट का कहना है कि यदि विभिन्न उपायों से भी कामबाण से आहत (नायक अथवा नायिका का) प्रिय से समागम (मिलन) नही हो पाता है तो उसका 'मरण' हो जाता है।[80]

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का कथन है कि रस के विच्छेद का हेतु होने से मरण का वर्णन कवियो द्वारा नहीं किया जाता।[81] रुद्रभट्ट का कथन है कि कामदेव के कारण पुरुषो की भी ये ही दशा अवस्थाये होती हैं किन्तु अशोभन लगने के कारण उन दोनों (नायक या नायिका) के मरण को कोई कवि निबद्ध नहीं करता। फिर भी कुछ लोग (बाणभट्ट आदि की भांति) उसके प्रत्युज्जीवन की इच्छा से उसका वर्णन करते है। फिर भी घटित वृत्त के वर्णन में तो यह प्रशस्त्य है जबकि उत्पाद्य (कल्पित) कथानक में यह प्रायः उचित नहीं है।[82] वे आगे कहते है कि यदि एक के मरने पर दूसरा किसी प्रकार जीवित भी हो जाये तो भी उस प्रेम की क्या गिनती जिसमे मृत्यु भी हुई और सङ्गम भी नहीं हुआ।[83]

इसी सम्बन्ध में रुद्रट काव्यालङ्कार की टीका में नमिसाधु का मन्तव्य दृष्टव्य है–

"एताश्च दशाः कादम्बरीकथायां प्रकटाः। मरणं तु केचिन्नेच्छन्ति दशाम्। मृतस्य हि कीदृशः शृङ्गारः। यैरुक्तं ते तु मन्यन्ते। नवमीं दशां प्राप्तस्य

निरुद्यमस्य मरणमेव दशमी दशा स्यात्। ततस्तामप्राप्तेन नायकेन तन्निषेधार्थं यतितव्यमिति दर्शनार्थं दशमी दशोक्ता।"

वस्तुतः मरण का वर्णन दशरुपककार ने 33 व्यभिचारी भावो के अंतर्गत किया है। इसमे वे कहते है–

मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थात्वाच्च नोच्यते।

अर्थात् मरण का लक्षण नहीं कहा, क्योंकि वह प्रसिद्ध ही है वह अनर्थ रुप होता है।

धनिक का इस सम्बन्ध मे कथन हैं –

इत्यादिवच्छृङ्गाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम् अन्यत्र कामचारो यथा वीचरिते पश्यन्तु भवन्तस्ताण्काम्

श्रृङ्गार के आश्रय (रतिभाव के आश्रय प्रिया अथवा प्रिय) को लक्ष्य करके (आलम्बनत्वेन) जो मरण होता है, उसमें केवल मरण की तैयारी का ही वर्णन होना चाहिये (साक्षात् मरण का नहीं) भाव यह है कि श्रृङ्गार के वर्णन में साक्षात् मरण का वर्णन नही किया जात अपितु मरण की तैयारी का ही वर्णन किया जाता है। अतः नाट्यदर्पण में 'मृत्युसङ्कल्पों मरणम्' तथा प्रतापरुद्रीय में 'मरणं मरणार्थस्तु प्रयत्नः परिकीर्तितः' ऐसा कहा गया है। नाट्यशास्त्र आदि में जो मरण के प्रकार तथा अभिनय आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है वह श्रृङ्गार से अन्य रसों के सन्दर्भ में समझना चाहिये।

इस सम्बन्ध में दशरुपककार का कथन है कि नायक–नायिका में से एक के मर जाने पर जहां दूसरा विलाप करता है, वहां तो करुण (शोक) रस ही होता

है, शृङ्गार नही, क्योकि वहा शृङ्गार का आलम्बन ही समाप्त हो चुका होता है और यदि पुनर्जीवित हो जाता है तो करुण नहीं होता अपितु शृङ्गार ही होता है।

जैसे रघुवंश में इन्दुमती की मृत्यु पर अज का विलाप करुण ही है। प्रवास विप्रयोग (या करुण विप्रलम्भ इत्यादि) नही। कादम्बरी मे भी पहले तो पुण्डरीक के परलोक गमन पर करुण है, आकाशवाणी होने के पश्चात् वहां प्रवास विप्रयोग ही है।[84]

दशरुपककार के विपरीत रुद्रभट्ट उस परम्परा के है जो करुण विप्रलम्भ को स्वीकार करती है। इस परम्परा मे अन्य आचार्य जो करुण विप्रलम्भ को मानने वाले हैं वे हैं – भोज[85], विद्यानाथ[86], शिंगभूपाल[87] तथा विश्वनाथ[88]।

इनमे भोजराज का कथन है –

भावों यदा रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति

नाधिगच्छति चाभीष्टं विप्रलम्भस्तदोच्यते।।

पूर्वरागो मानश्च प्रवासश्च करुणश्च सः

पुरुषस्त्रीप्रकाण्डेषु चतुःकाण्डः प्रकाशते।।

(सरस्वती कण्ठाभरण, परि0 5)

शिगभूपाल ने रसाणविसुधाकर (उल्लास 2) में इसे करुण का भ्रम उत्पन्न करने वाला (करुण सा भासित होने वाला) वियोग शृङ्गार बतलाया है।

द्वयोरेकस्य मरणे पुनरुज्जीवनावधौ विरहः करुणोऽन्यस्य सङ्गमाशनिवर्तनः।

करुणभ्रमकारित्वात् सोऽयं करुण उच्यते।।

साहित्यदर्पण में विश्वनाथ ने करुण विप्रलम्भ का कुछ अधिक विशद विवेचन किया है।

यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्ततो भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः।।

साहित्यदर्पण 3/209

इस प्रकार से नायक और नायिका मे से किसी एक के परलोक चले जाने पर किन्तु पुनः (इसी जन्म मे) मिलन की आशा होने पर जो दूसरा शोक करता है वहां (रतिभाव का मिश्रण होने से) करुण विप्रलम्भ होता है। यदि परलोक गये व्यक्ति के फिर मिलने की आशा नही रहती अथवा दूसरे जन्म में मिलने की आशा होती है तो करुण ही होता है। साहित्यदर्पण के अनुसार कादम्बरी में पुण्डरीक और महाश्वेता के वृत्तान्त में करुण विप्रलम्भ है।

इस सन्दर्भ मे दशरुपककार का मन्तव्य है कि पुण्डरीक तथा महाश्वेता के वृत्तान्त मे आकाशवाणी से पूर्व करुण ही है क्योंकि वहां रतिभाव का उद्भव ही नही हो सकता। हां आकाशवाणी होने पर महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक के पुनर्मिलन की आशा हो जाती है अत. रतिभाव का उद्भव होता है तथा वहां विप्रयोग नामक शृङ्गार है, जिसका शापजन्य प्रवास में अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार दशरुपककार के अनुसार करुण विप्रलम्भ नामक कोई एक रस ही नहीं होता। साहित्यदर्पण (3–209 वृत्ति में) 'इत्यभियुक्ता मन्यन्ते' कहकर दशरुपक के मत को प्रस्तुत किया गया है।

इस मत का साहित्यदर्पणकार के मतानुसार यह प्रत्याख्यान है कि कादम्बरी के अन्दर पहले महाश्वेता का रतिमूलक शोक था, आकाशवाणी सुनने के अनन्तर पुनः रति का उद्रेक हुआ, इस प्रकार आदि और अन्त में उत्पन्न रति के मध्यवर्ती शोक के स्थायीरुप से दृढ़ न होने के कारण शोक स्थायीभाव वाला 'करुण रस' किसी भी अंश में प्राप्त नहीं होता है। अपितु आदि से अन्त तक

वृत्तान्त को जानने वाले सहृदय सामाजिकों के हृदय में शोक से मिले हुए रति स्थायीभाव के स्थिर रुप से प्राप्त होने के कारण तथा "करुण–विप्रलम्भ" के लक्षण के अनुसार सर्वांश मे ही करुण विप्रलत्भ है क्योकि शोक से मिश्रित रति के स्थायी–भाव होने से ही इसका नाम करुण–विप्रलम्भ समझना चाहिए। "उत्तर रामचरित" के अन्दर और "कुवलयाश्व" के अन्दर भी इसी प्रकार से करुण विप्रलम्भ –प्रधान रस है। साहित्यदर्पणकार यहां दो अन्य मतों को उठाते है। "यच्चात्र सङ्गभप्रत्याशानन्तरमपि भवती विप्रलम्भश्रृंगारस्य प्रवासारव्यों भेद एवं इति केचिदाहु। तदन्ये मरणरुपविशेषसम्भवात्तद्भिन्नमेव इति मन्यन्ते। "अर्थात यहा (कादम्बरी में महाश्वेता और पुण्डरीक के वृत्तान्त में) जो मिलने की आशा (को उत्पन्न करने वाली आकाशवाणी के सुनने के) बाद भी उत्पन्न होने वाले "विप्रलम्भ शृङ्गार" का प्रवास नामक भेद ही है ऐसा कुछ आचार्य (धनिकादि) मानते है (क्योंकि नायक–नायिका के परस्पर भिन्न स्थान मे स्थित होने के कारण प्रवास का लक्षण घटित हो जाता है, करुण विप्रलम्भ शृङ्गार" का नहीं इस प्रकार कुछ आचार्यो (धनिकादि) का जो यह कहना है, कि कादम्बरी के अन्दर पहले करुण रस है फिर आकाशवाणी सुनने के अनन्तर प्रवास शृङ्गार" है उन्हें यही उत्तर है कि इसी बात को भिन्न मत वाले मरण रुप विशेष दशा के सम्भव होने से उससे (करुण विप्रलम्भ और प्रवास से) यह भिन्न ही है इस प्रकार मानते हैं । (अर्थात इससे भिन्न करुण रस मानते है) वस्तुत इसका यह निदान हो सकता है (1)नायक और नायिका के वियोग होने पर जीवित होने के ज्ञान की अवस्था में विक्लवता सो पोषित रति के प्रधान होने से "विप्रलम्भ" शृङ्गार" है और सञ्चारी भाव है। (2) मृत्यु के ज्ञान की अवस्था में रति से पोषित विक्लवता की प्रधानता है

अत "करुण" रस है इस प्रकार (3) जब मृत्यु के ज्ञान होने पर भी देवता के प्रसादादि से किसी प्रकार पुनरूज्जीवन हो जाये तो आलम्बन के अत्यन्त निरास के अभाव होने के कारण चिरप्रवास की तरह "करूण विप्रलम्भ" ही है, करूण रस नही रुद्रभट्ट का अभिमत हम करूण–विप्रलम्भ के वर्णन के अवसर पर देगे। इस प्रकार से पूर्वानुराग के अंतर्गत काम की दश अवस्थाओं का वर्णन किया गया । अब विप्रलम्भ के दूसरे प्रभेद मान का वर्गीकरण किया जायेगा।

मान

रुद्रभट के अनुसार अन्य स्त्री के सङ्ग आदि दोष के कारण जब नायिका ईर्ष्या से नायक के प्रति विकार धारण करती है,तो वह मान कहलाता है।[89] रुद्रट की भाषा भी बिल्कुल यही है[90] दशरुपककार ने इसे प्रणयमान कहा है।[91] उनके अनुसार नायक नायिका मे से किसी एक के अथवा दोनो के कोपयुक्त होने पर प्रणयमान होता है। धनिक लिखते हैं कि प्रेम के द्वारा प्रिय को वश में करना प्रणय कहलाता है उसको भङ्ग करने वाला मान प्रणयमान है।[92]

साहित्यदर्पण के शब्दों में मान है–

मानः कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः ।

द्वयोः प्रणयमानः स्यात् प्रमोदे सुमहत्स्यपि ।।

प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् कोपो यः कारण बिना।।

साहित्यदर्पण–3 / 198–99

दशकरुपक और साहित्यदर्पण में मान का (प्रणयमान का) वर्णन प्रायः एक सा है दोनों ने प्रणय में कोप की संभावना दोनों ओर से (नायक नायिका दोनों में)की है। जबकि रुद्रट और रुद्रभट ने सिर्फ नायिका के नायक प्रति कोप

की व्यञ्जना की है[93] और यह कोप भी अन्य नायिका मे अनुरक्त जानकर ही होता है। यह मान रुद्रभट कै मत मे तीन प्रकार का होता है।वे कहते है "नायक का दोष देखकर उसके प्रति कामिनियो का मान प्रायःतीन प्रकार होता है (1)गरीयान् (गुरु) (2)मध्यम और (3) लघु

रुद्रट मान के प्रकार न बताकर दोषों के प्रकार बताते है[94] इन दोषों के ज्ञान से उत्पन्न नायिका के तीन प्रकार के कोप असाध्य, सुखसाध्य व दु खसाध्य बतलाये है। स्वल्पमध्यम दोष और महत्तम दोष । इनमें परायी स्त्री के साथ गमन "महादोष " है, परायी स्त्री के ही साथ संलाप मध्यम दोष, उसे (परायी स्त्री को) देखना स्वल्प मध्यम दोष और नायिका के स्वय देख लेने पर महत्तम दोष होता है उन दोषो के चिह्न वे बताते हैं कि नायक के धारण किए गए वस्त्रादि उसके आर्द्र एवं क्षत अंग, गोत्रस्खलन (किसी अन्य स्त्री का नामादिग्रहण) तथा सखी की बात आदि दोष के परिचायक होते हैं । फिर देश, काल पात्र आदि विशेषणो से युक्त दोषों के बोधक प्रसङ्गों को प्राप्त होकर ये दोंष असाध्य, सरलता से साध्य और कठिनाई से साध्य क्रोध को उत्पन्न करते हैं।[95] इस पर नमिसाधु टिप्पणी करते है—यदि ज्यायान्सों देश कालपात्र प्रसङ्गा भवन्त्यसाध्यस्तदा कोपःस्यात्। अथ मध्यास्तदा कृच्छ्रसाध्यः। अथ कनीयासस्तदा सुखसाध्य इति। (यदि देश, काल और पात्र ज्यायान्(महत्वपूर्ण) होते है तब कठिनाई से साध्य होता है जब क्षुद्र होते हैं तब सरलता से साध्य होता है।

तत्रानुकूल दक्षिणादिश्चतुर्धानायकः आत्मन्यसर्वसक्ताश्च नायिकाः ।

तत्रानुकूलेन दक्षिणेन च नायकेन ज्यायस्या नायिकाया दोषः कृतोऽसाध्यः।

शठेन धृष्टेन च ज्यायस्याः कृच्छ्रसाध्य :।

शठेन च ज्यायस्याः सुखसाध्य इत्यादि चिन्त्यम् ।

(इनमें अनुकूल और दक्षिण नायक के द्वारा उत्तम नायिका के प्रति किया गया दोष असाध्य होता है शठ और धृष्ट के द्वारा (उत्तम नायिका के प्रति किया गया दोष) कठिनाई से साध्य होता है , और उत्तम नायिका के प्रति शठ नायक के द्वारा किया गया दोष सरलता से साध्य होता है।) यह पात्र का उदाहरण है। यद्यपि यह अभिमत है कि क्रोधों का कम सही नहीं है इन्हें कमशः असाध्य, दुख साध्य व सुखसाध्य (इस क्रम मे) होना चाहिए था फिर यही क्रोध मान में रुप मे रुद्रभट्ट का गरीयान् मध्यम, और लघु हो सकता था। रुद्रट इसी का उल्लेख कोप के सुखसाध्य होने के सन्दर्भ करते हैं वे कहते है कि कामियों के लिए काष्टसाध्य भी स्त्रियो का सद्यः उत्पन्न क्रोध देश और काल के प्रभाव से सुखसाध्य हो जाता है। रुद्रभट्ट ने प्रसङ्ग का उल्लेख रुद्रभट्ट ने (शृ ति/2/54–55–56 में) तथा रुद्रट ने (14/19–20) काल का उल्लेख रुद्रभट ने (2/57में) (रुद्रट ने काल के स्थान पर प्रसङ्ग के उदाहरण (14/21)दिए हैं रुद्रट के अनुसार उत्तम देश–काल आदि मे किया गया महत्तम दोष असाध्य कोप का कारण बनता है, इससे मनस्विनी स्त्री तो शीघ्र मर जाती है, या पुरुष को त्याग देती है। यह निराशावादी दृष्टकोण है रुद्रभट्ट ने शृङ्गार की मधुरता को बनाये रखा और आशावादी दृष्टिकोण रखा–उनके अनुसार–कामियों के लिए कष्टसाध्य भी स्त्रियों का सद्यः उत्पन्न कोध देश और काल के प्रभाव से सुखसाध्य हो जाता है।[96]

अब रुद्रभट्ट की नायिका के तीनो प्रकार के मान का वर्णन करते हैं।

(1) <u>गुरुमान</u>– प्रिय के अन्यनारी के पास जाने पर नखचिन्ह स्वयं देखकर, उसका वस्त्र स्वयं देखकर या नायक के मुंह से उसका नामोच्चारण सुनकर नायिका का जो मान होता है, उसे गुरुमान कहते है ।[97]

(2)<u>मध्यम मान</u> – प्रियतम को अन्य नायिका के साथ प्रेम से बात करते देख कर तथा उसके दोष को किसी सखी के कहने पर (सुनकर) नायिका का जो मान होता है उसे मध्यम मान कहते है।[98]

<u>लघुमान</u> – किसी अन्य नायिका को विलासपूर्ण एवं फडकती आखो से देखते हुए प्रिय अथवा कुछ अनमने हुए प्रिय पर नायिका का जो मान होता है, उसे लघु मान कहते है। रुद्रभट्ट और रुद्रट दोनो ने ही नायिका के कुपित होकर मान करने पर उसे मनाने के छ. उपायो का वर्णन किया है।[99] वे छः उपाय हैं।–

1. साम
2. दान
3. भेद
4. उपेक्षा
5. प्रणति
6. प्रसङ्गविभ्रंश

रुद्रभट्ट कहते है "दण्ड शृङ्गारहा न तु" अर्थात् दण्ड चूँकि शृङ्गार का विघातक है अतः उसे नहीं कहा है। रुद्रट भी कहते हैं "दण्डस्त्विह हन्ति शृङ्गार" इनका विस्तार से निर्वचन करते हैं–

(क)साम– "हे सुन्दर भौहों वाली!मै दुष्ट होते हुए भी तुझ क्षमाशील के द्वारा पालन के योग्य हूँ।"जहां इस प्रकार का कथन नायक कहता है उसे साम कहते

है।[100] रुद्रट कहते है "तुम्हारा ही पालनीय दास हूँ तुम धीर हो और सदैव क्षमा करने वाली हो, मै ही दुष्ट हूँ इत्यादि चाटुक्तियां साम है।[101] (4)दशरुपककार के मत में प्रिय वचन कहना साम कहलाता है। (तत्रप्रियवच साम)

(ख) दान – नायक जब किसी कारण को लक्ष्य करके नायिका को प्रसन्न करने के लिए गहने आदि देता है, तो उसे दान कहते हैं[102] इसका बडा ही सुन्दर उदाहरण रुद्रभट्ट देतें हैं जिससे इस से नायिका को मनाना स्पष्ट हो जाता है– "प्रेमी (नायक) ने अपने हार को स्वय यह तुम्हारा है कहकर नायिका के पुलकायमान स्तनमण्डल पर डाल दिया और पहले से नाराज भी नायिका के केशो को पकडते हुए उसे (नायिका) को चूम लिया। धनञ्जय के मत मे किसी बहाने से आभूषण आदि देना दान कहलाता है। (दानंव्याजेन भूषादे .)

(ग) भेद– जब प्रियतम नायिका के खुश किए गये वीरजनों को आकृष्ट करके उन्ही के माध्यम से उसे प्राप्त करता है तो उसे भेद कहते हैं[103] धनञ्जय के अनुसार "भेदस्तत्सख्ययुपार्जनम्" अर्थात् उस(नायिका) की सखियों को अपनी ओर मिला लेना उपार्जन या भेद कहलाता है । रुद्रट भेदकी परिभाषा देते हैं –

तस्याः गृहीतवाक्यं परिजनमाराध्य दानसंमानै :।

तेन सदोष : कोपे तां बोधयतीत्ययं भेद : ।।

काव्या0 14/30

(उस नायिका के विश्वासपात्र सेवक को अपने पक्ष में मिलाकर, अपराध करने पर भी क्रोधी नायिका को जो उस परिजन की मध्यस्थता से प्रसन्न कर लेता है उसे भेद कहते है।)

(घ) उपेक्षा :— प्रसन्न करने के ढङ्ग को छोडकर जब नायक अन्यार्थसूचक वाक्यों से नायिका को प्रसन्न करता है तब इस उपाय को उपेक्षा कहते है। रुद्रट के अनुसार नायिका का तिरस्कार उपेक्षा है (उपोक्षाऽवधीरणं तस्या.)। दशरुपककार का कथन है सामदानादि (साम, दान, भेद और प्रणति) के विफल (क्षीण) हो जाने पर (नायिका के प्रति) उदासीनता रखना उपेक्षा है।

(च) **प्रणति** :— केवल दीनता का आश्रयण करके नायिका के चरणो मे गिर जाना प्रणति (या नति) है। यह बात स्त्रियों को बहुत अभीष्ट एवं सुन्दर लगती है।[104] दशरुपककार के मत मे चरणो में गिरना नति है (पादयों पतनं नति) रुद्रट का भी यहीं मत है (दैन्येन पादपतन प्रणति)

(छ) **प्रसङ्गविभ्रंश** :— "जब अचानक भय, हर्ष आदि भावना उत्पन्न हो जाती है, तो क्रोध नष्ट हो जाता है। यही प्रसङ्गविभ्रंश कहलाता है।"[105] यहां रुद्रभट्ट धनञ्जय के अधिक समीप प्रतीत होते है उनका कहना है– रभसत्राससहर्षादिः कोपभ्रंशो रसान्तरम्। (रभस (उद्विग्नता, शीघ्रता, जल्दबाजी) भय तथा हर्ष आदि से नायिका के कोप का नाश हो जाना ही रसान्तर (अन्य रस का आ जाना) कहलाता है।) रुद्रट का कथन है एकाएक अत्यन्त उत्सव का आरम्भ कोप के प्रसङ्ग का विनाशक होने से प्रसङ्गविभ्रंश उपाय कहलाता है।

"सहसात्युत्सवयोगो भ्रंशः कोपप्रसङ्गस्य"

काव्या० 14/31

रुद्रभट्ट इसे निम्न उदाहरण से स्पष्ट करते हैं –

कथं ममोऽसि कृतपक्षनिः स्वनः

शिलीमुखोऽपतदिति जल्पति प्रिये

निवृत्य किं किमिति ब्रुवाणनया

ससाध्वयं कुपितममोचि कान्तया

शृ ति. 2/75

इस प्रकार से छ. उपाय कहे गये। रुद्रभट्ट के अनुसार नायिका को प्रसन्न करने में ये उपाय उत्तरोत्तर बलवत्तर होते है। चतुर नायक को प्रथम तीन का अधिक तथा बाद के तीन का कही–कही प्रयोग करना चाहिये।[106]

रुद्रट के मतानुसार पूर्व–पूर्व के उपाय मृदु तथा उत्तरोत्तर कठिन है, जो क्रोध कोमल उपाय से न सिद्ध हों वहां कठिन उपायों का प्रयोग करना चाहिये।[107]

कुछ अति महत्वपूर्ण बातें भी शृङ्गारानुकूल होने के कारण रुद्रभट्ट कहने से नहीं चूकते। वे नायिकाओ के लिये भी उपदेश देते हैं कि प्रमदाओं को भी चाहिये कि वे प्रिय को अधिक खिन्न न करें। केवल प्रणति (नति) रुप उत्सव की प्राप्ति के लिये कभी–कभी थोडा मान करना चाहिये। वे कहते है कि नायिका को भी प्रिय के (कुपित होने पर) इन्हीं उपायों का प्रयोग करना चाहिये। नायिका को चाहिये कि वह क्रुद्ध पति की उपेक्षा न करे। आचार्यवर के अनुसार स्नेह के बिना भय नही होता और ईर्ष्या के बिना काम नहीं होता, इसलिये यह मान का प्रकार दोनों के प्रेम को बढाने वाला होता है। वे नायक के प्रति कोप के समय अथवा प्रेम के समय नायिकाओं द्वारा नायक के प्रति कहे जाने वाले सम्बोधनों की लम्बी सूची देते है। उनका यह भी विश्लेषण है कि गर्व से, व्यसन से, बुराई करने से, कठोर वचन बोलने से, लोभ से और अधिक दिन प्रवास करने से पति स्त्रियों के लिये द्वेष के योग्य हो जाता है।[108]

प्रवास

किसी कारण से प्रिय जब अन्य स्थान पर चला जाता है तो यह प्रवास की अवस्था कहलाती है। और यह अवस्था दोनों (नायक और नायिका) के लिये कष्टदायक होती है।[109] वे अनेक उदाहरणों से इन प्रवासजनक कष्टों का वर्णन करके अन्त मे कहते है कि विरह की उपर्युक्त अवस्थाये पुरुष की भी होती है। कामदेव के बाणो के प्रहार आदि कष्ट शत्रुओं को भी न हो।[110]

प्रवास के सन्दर्भ में रुद्रट का कथन है –

यास्यति याति गतो यत्परदेशं नायकः प्रवासोऽसौ।

एष्यत्येत्यायातो यथर्त्ववस्थोऽन्यथा च गृहान्।।

(काव्या, 14/33)

(ऋतु के अनुरुप अवस्था वाला नायक विदेश जाएगा, जा रहा है, जा चुका है, घर आयेगा आ रहा है, आ चुका है, इस प्रकार जहां अवस्था होती है वहां प्रवास शृङ्गार होता है। (नायक के) ऋतु के अनुकूल अवस्था न होने पर भी प्रवास शृङ्गार होता है।)

दशरुपककार इसका निबन्धन प्रवास विप्रयोग के अन्तर्गत करते हैं। उनका कहना है किसी कार्य से, संभ्रम से (घबराहट से) या शाप से दोनों का अलग अलग प्रदेश में रहना ही प्रवास कहलाता है। उससे अश्रुपात, निःश्वास, दुर्बलता, बालों का बढ जाना इत्यादि अनुभाव होते हैं। उनके मतानुसार इनमें से प्रथम कार्यज प्रवास बुद्धिपूर्वक होता है तथा भावी, भवन और भूत तीन प्रकार का होता है।[111]

द्वितीय अर्थात सम्भ्रम से उत्पन्न हाने वाला प्रवास वह है जो दैवी या मनुष्यकृत उपद्रव से सहसा हो जाता है[112] तथा तृतीय शापज प्रवास वह होता है जब नायक तथा नायिका दोनों के समीप रहने पर भी जो स्वरुप बदल जाने के कारण देशान्तरगमन का भाव होता है।[113]

विश्वनाथ प्रवास को और स्पष्ट करते हे. –

प्रवासी भिन्नदेहित्वं कार्याच्छापाच्च संभ्रमात्

तत्राङ्गचेलमालिन्यमेकवेणीधरं शिरः

निःश्वासोच्छवासरुदित भूमिपातादि जायते।।

सा द 3/204–5

वात्स्यायन कामसूत्र के भार्याधिकारिक नाम के चतुर्थ अधिकरण में प्रवासचार्य का (प्रवास की अवस्था में स्त्री द्वारा किए जाने वाले नियमो का विस्तृत वर्णन है।

करुणात्मक

करुण विप्रलम्भ पूर्व में बहुत कुछ कहा जा चुका है अब रुद्रभट्ट का अभिमत बतलाते है।

जब एक (नायक या नायिका) के मरने पर दूसरा मृतप्राय हो जाता है, उनमे से नायक प्रेम के कारण प्रलाप करता है तो यह करुण विप्रलम्भ नामक शृङ्गार होता है।[114] इस करुण विप्रलम्भ शृङ्गार में मनुष्य प्रायः म्लान, आंसू बहाने वाला, उद्विग्न, शिथिल अंगो वाला, नष्ट चेतना वाला, चिन्तायुक्त और दीन हो जाता हैं।[115]

रुद्रभट्ट के मतानुसार करुण विप्रलम्भ में इसकी रतिमूलक मिथुनावस्था को भूलकर कुछ विद्वानों को कारुण्य के कारण करुणरस का भ्रम हो जाता है।

फिर स्त्री और पुरुष का सापेक्ष सगम होता है। अन्यथा यह शृङ्गार वचनो से युक्त करुण हो जाता। अन्त मे वे निष्चयत कहते है कि यह करुण रस से अनुमोदित (समर्थित) शृङ्गार रस ही है। तथा कवियो के द्वारा विरल रुप से निबद्ध यह करुणात्मक विप्रलम्भ रुप शृङ्गार विशेष सौन्दर्य धारण करता हैं।[116]

नर्मसचिव

नर्म (शृङ्गार) में सहायक (सचिव) के बारे में रुद्रभट्ट का कथन है कि मन्त्र (गुप्त बात) को छिपाने वाला, शुचि (पवित्र) वाग्मी, भक्त, नर्मव्यापार मे चतुर और क्रुद्ध स्त्री को प्रसन्न करने वाला पुरुष उसका (नायक का) नर्मसचिव होता है।[117] रुद्रट कहते है कि नायक का नर्मसचिव क्रीडा मे सहायक होता है, उसके आठ गुण होते है। वह नायक का भक्त, गुप्त बातों को छिपाने वाला, नर्म में कुशल, ईमानदार, पटु, वाचाल, मन को जानने वाला और प्रतिभाशाली होता है।

वे कहते है कि – पीठमर्द, विट और विदूषक, ये तीन प्रकार के नर्मसचिव होते है।[120]

पीठमर्द

यह इनमें से पहला नर्मसचिव है और यह नायक और नायिका का अनुगमन करने वाला होता है। रुद्रट के मतानुसार[119] नायक के गुणों से युक्त उसका[118] अनुचर पीठमर्द कहलाता है।

दशरुपककार में भी इसे नायक का सहायक माना है धनञ्जय के मतानुसार पीठमर्द, जो विशेष प्रकार के प्रासङ्गिक इतिवृत्त पताका का नायक होता है (कथा वस्तु के दो प्रकार बतलायें गये है – आधिकारिक और प्रासङ्गिक। प्रासङ्गिक इतिवृत्त भी दो प्रकार का होता है पताका तथा प्रकरी) यह प्रधान

दशरुपककार रुद्रभट्ट की ही शब्दावली में कहते हैं – एकविद्यो विट च। रुद्रट भी ऐसा ही कहते है – विट एकदेशविद्यो।

विदूषक

आचार्य रुद्र के अनुसार प्राय क्रीडा करने वाला, अपने शरीर वेश तथा भाषा से हास्य उत्पन्न करने वाला तथा अपने कर्म को ठीक से जानने वाला नर्मसचिव विदूषक होता है।[122]

रुद्रट के शब्दों मे कहे तो प्राय· क्रीडा मे रुचि रखने वाला, अपने ही गुणो से युक्त, मूर्ख, हसी कराने वाले आकार, वेश और वाणी से युक्त विदूषक होता है।[123]

दशरुपककार 'हास्यकृच्च विदूषक' इतना मात्र इस का लक्षण करके पूरी बात मानो कह देते है।

आचार्य विश्वनाथ ने विदूषक का अधिक विस्तृत विवेचन किया है। उनके मत में –

कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेशभाषाद्यैः।

हास्यकरः कलहरतिविदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः।।

सा0द0 3/42

नायिकाओं के सखीजन

आचार्य रुद्र के अनुसार नायिकाओं की ये सखियां होती है –

1. कारु (धोबिन आदि)
2 दासी
3. नटी
4. धात्री

5 प्रतिवेशिनि (पडोसन)

6 शिल्पिनी

7 बाला

8 प्रव्रजिता

उनके अनुसार नायिकाओं की सखियो मे निम्न गुण होने चाहिये –

कलाओं में कुशलता, उत्साह, स्वामीभक्ति, दूसरे के अभिप्राय को समझना, अच्छी स्मृति, वाणी में मधुरता, नर्म सम्बन्धी बाते जानना और बोलने की अच्छी शक्ति।

उनके कार्य ये हैं

मनोरञ्जन, शृङ्गार करके सजाना, शिक्षा, उलाहना देना, प्रसन्न करना, समागम कराना, और विरह की दशा में आश्वासन देना।

आचार्य कहते हैं कि नायिकाओं की ये सखियां सर्वस्वधारण करने वाले कलश के समान हमेंशा नायिकाओं के विभिन्न कार्य करती हैं

दशरुपक में लिखा है –

दूत्यों दासी सखी कारुर्धात्रेयी प्रतिवेशिका।

लिङ्गिनी शिल्पिनी स्वं च नेतृमित्र गुणान्विताः।।

इनके गुण धनिक ने बताये हैं–

शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्च बोधः प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी

कालानुरोधः प्रतिभानवत्वमेते गुणाः कामदुधा क्रियासु।।

दूती के प्राकर नाट्यशास्त्र मे (23.9–11) भावप्रकाशन में (पृ–94) नाट्य दर्पण मे (4–288), प्रतापरुद्रयशोभूषण मे (1 55) तथा साहित्य दर्पण में (3–128–123) में दिए हैं।

दूत तीन प्रकार के होते है–

1 निसृष्टार्थ – जो दोनो के भाव को समझकर स्वयं उत्तर दे देता है और यथोचित कार्य कर लेता है–

2 मितार्थ – जो बात तो थोडी करता है किन्तु जिस कार्य के लिए भेजा जाता है उसे सिद्ध कर लेता है।

3. सन्देशहारक – जो उतनी ही बात कहता है जितनी उसे बतलाई जाती है–

इन तीन प्रकार के दूतों के समान ही तीन प्रकार की दूतिया होती है।[124]

फुटनोट्स

1. श्रृङ्गाराद्हि भवेद् हास्यो रौद्राच्च करुणोरस।

   वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानक.।।

2. एकोरसः करुण एवं निभित्त भेदात्

   भिन्नः पृथक पृथगिवाश्रयते विवर्तान।

   आवर्तबुद्बुदेतरङ्गमयान् विकारान्

   अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्।।

3 रसोऽभिमानोऽहङ्कारः श्रृङ्गार इति गीयते ।

   योऽर्थस्तस्यान्वयात् काव्य कमनीयत्वमश्नुते ।। सरस्वतीकण्ठाभरण 5/1

4. श्रृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य वीभत्सवत्सल भयानक शान्त नाम्न :।

   आमनासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु श्रृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः।।

   श्रृङ्गारप्रकाश –1/6

5. श्रृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमय जगत् ।।

   स एव चेदश्रृङ्गारी नीरसं सर्वमेव तत् ।। सरस्वतीकण्ठाभरण –5/3

6. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास –डॉ0 एस. के डे./पेज– 557–58

7. स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुदभव : ।

   विकासविस्तार क्षोभविक्षेपै : स चतुर्विध ।।

6. श्रृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात् ।

   हास्याद्भुदभयोत्कर्षकरुणानां त एवं हि ।।

   अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम् ।। दशरुपक– 4, 43–45

7. धर्मादर्थोऽर्थत : कामः कामात्सुखफलोदय : ।

8. रुद्रट says "तस्मात्ततकर्त्तव्य यत्नेन महीयसा रसेर्युक्तम्"

(xii.2) Thease writers were well aware of the existence of rasa, but they had not found out how to apply the theory to Kavaya in general. To them alankars Seemed to be the most important parts in kavyas. So much so that they made rasas subordinate to alankaras and defined such figures as रसवत् " (History of Literature by P.V. Kane – p- 374.)

9 तत्र कामस्य फलत्वादशेषहृदयसंवदित्वाच्च तत्प्रधानशृङ्गारं लक्षयति ।

ना. शा– अभिनवगुप्त व्याख्या शृङ्गाररस प्रकरण

10 यस्तु शृङ्गारशब्दस्य मत्वर्थीयेन व्युत्पत्तिमाह तस्य रुपमपि विस्मृतम् आरकन् हि प्रत्ययोऽत्र आरब्ध :। (शृङ्गार वृन्दाभ्यामारकन्"–वार्तिक 5–2–121)बृन्दारक इति यथा। अत्र एवोणादिषु निपातितोऽय शब्द :। (शृङ्गारभृङ्गारौ । उ सू.) अभिनवभारती व्याख्या–/नाट्यशास्त्र मण्डनमिश्रकृत व्याख्या भाग –2 पेज–129 ।

11. "तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव। उज्ज्वलवेषात्मकः। यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तत्छृङ्गारेणोपमयते। यस्तावदुज्जवलवेष · स शृङ्गारवानित्युच्यते " नाट्यशास्त्र षष्ट अध्याय(पेज–125)

12. चेष्टा भवति पुंनार्योया रत्युत्थानानुरक्तयो : ।
संभोगो विप्रलम्भो च शृङ्गारो द्विविधो मत : ।। 1/21

13. संयुक्तयोश्च संभोगो विप्रलम्भो वियुक्तयों :

प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च पुनरेष द्विधा यथा।। श्रृ. ति 1/22

14 तत्र आद्यः परस्परावलोकनालिङ्गनाधरपान परिचुम्बनाद्यनन्त भेदत्वात्परिच्छेद्य इत्येक एव गण्यते।

काव्यप्रकाश चतुर्थ "उल्लाश"

15. व्यवहार पुनार्योरन्योन्य रतिप्रकृति : ।

श्रृङ्गार स द्वेधा संभोगो विप्रलम्भश्च ।।

सम्भोग : सगतयोर्वियुक्तयोर्यश्च विप्रलम्भऽसौ ।

पुनरप्येष द्वेध प्रच्छन्नश्च सप्रकाश्च ।। काव्या0 रुद्रट – 12–5/6

16. काव्या0 14/6–9

17. श्रृ ति. 2/34–

18. काव्या 0 14/11

19 श्रृ. ति. 2/29

20. काव्या 14– 16

21. श्रृ. ति. 2/46

22 श्रृ. ति 2/ 53

23. काव्या0 14/18

24. दशकरुपक 4/50 ।

25. दशरुपक 4/51 ।

26. दशरुपक 4/57 ।

27. अपरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवास शापहेतुक इति पंचविधः"

28. साहित्यदर्पण की डॉ निरुपण विद्यालङ्कार कृत व्याखया पेज–229

–प्रकाशक– साहित्यभण्डार मेरठ, संस्करण 1997

29 विप्रलम्भोऽथ सभोग इत्येष द्विविधो मत. ।। सा. द. 3/186

30 न बिना विप्रलम्भेन सम्भोग पुष्टिमश्नुते ।

कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते ।। सा. द. 1/213

31. यत्र तु रति प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ

स च पूर्वराग, मान प्रवास करुणात्मकष्चतुर्धा स्यात। सा. द. 3/187

32. नीलो कुसुम्भं मञ्जिष्ठा पूर्वरागोऽपि च विद्या । सा द. 3/195

33. न चातिशोभते यन्नावैति मम मनागतम् ।

तन्नीलीरागमाख्यातं यथा श्रीरामसीतयो : सा द. 3/196

34 कुसुम्भराग तत्प्राहुर्यदपैति च शोभते ।

मञ्जिष्ठारागमाहुस्तद् यन्नापैत्यतिशोभते ।। सा. द. 3/197

35 पत्युरन्यप्रियासङ्गे दृष्टेऽथानुभिते श्रुते ।

इर्ष्यामानो भवेत् स्त्रीणां तत्र त्वनुभितिस्त्रिधा ।।

उत्स्वप्नायित भोगाङ्कगोत्र स्खलनसम्भवा ।। सा.द 3/199–200

36. भावी भवन्भूत इति त्रिधा स्यात् तत्र कार्यजः । सा द. 3/208

37. संभ्रमोदिव्यमानुषनिर्घातोत्पातदिजः । सा. द. 3/208

38. यूनोरेकतरिस्मन गतवति लोकान्तर पुनर्लभ्ये ।

विमनायते यदैकस्ततो भवेत् करुण विप्रलम्भाख्यः ।।

सा. दृद. 3/209

39 चेष्टा भवति पुन्नार्योर्या रत्युत्थानानुरक्तयोः।

संभोगो विप्रलम्भश्च शृङ्गारों द्विविधो मतः।।

संयुक्तयोश्च संभोगो विप्रलम्भो वियुक्तयोंः।

प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च पुनरेष द्विधा यथा।। शृ.ति. 1/22

40 मदनकुञ्जरकुम्भतटोपमें स्तनयुगेपरित. स्फुरिताङ्गुलिम्। सकरजक्षतवाममपि प्रिया दयितपाणिममन्यत दक्षिणम्।। शृति. 1/23

41 कान्ते विचित्रसुरतक्रमबद्धरागे संकेतकेऽपि मृगशावदृशा रसेन। तत्कूजित किपपि येन तदीयतल्प नाल्पै परीतमनुकूमितलावकौधै ।।

शृङ्गारतिलक 1/25

42 किचितद्वक्रितकण्ठकन्दलवलत्पीनस्तनावर्तन

व्यायामाञ्चित कञ्चुक मृगदृशस्तस्यास्तदालोकितम्।

वाचास्ताश्च विदग्धमुग्धमधुराः स्फारीभवन्मन्मथा ह हो मानस कि

स्मटस्यभिमताः सिध्यन्ति पुण्येः क्रिया ।।

शृङ्गारतिलक 1/26

43. संतप्त. स्मरसन्निवेश विवशैः श्वासैर्मुहु. पंचमोंद्गारावर्तिभिरापतद्भिरथितः सिक्तश्च नेत्राम्बुभिः

एतस्याः प्रियविप्रयोगविधुरस्त्यक्तवाधरो रागितां संप्रत्युद्धतवहिनवारिविषमं मन्ये व्रतं सेवते।।

शृङ्गारतिलक 1/24

44. दश0 चतुर्थ/58 की अवलोक वृत्ति

45. शृङ्गारभेद के लिये द्रष्टव्य नाट्य–शास्त्र तथा अभिनव भारती (अध्याय 6 तथा पृष्ठ 303), ध्वन्यालोकवृत्ति (2–13), काव्य प्रकाश (4/29) भाव प्रकाशन – वियोगायोग संभोगैः शृङ्गारों भिद्यते त्रिधा (पृ0 85), नाट्य दर्पण (3/166) साहित्यदर्पण (3/186) रसगङ्गाधर (1 पृष्ठ 138) भावप्रकाशनकार तथा दशरुपककार के अतिरिक्त प्रायः सभी ने शृङ्गार के

दो भेद माने हैं – सम्भोग तथा विप्रलम्भ। सभोग के लिये सयोग शब्द का भी प्रयोग किया गया है तथा विप्रलम्भ के लिये वियोग का।

46 नाट्यदर्पण (3/166)

47. काव्यप्रकाश 'मम्मट' 4/29 की वृत्ति

48. नाट्यदर्पण 3/166

49 अयोग वह होता है जब नवयौवन से युक्त एक चित्त वाले (समान रुप से अनुरक्त) नायक तथा नायिका मे अनुराग तो होता है किन्तु दूसरे माता–पिता आदि के अधीन होने के कारण या दैववश दोनों एक दूसरे से दूर रहते है अतः मिलन नही होता है।

तत्रायोगोऽनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयो।

पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकषदिसङ्गमः।। दश चतुर्थ/50

योगोऽन्योन्यस्वीकारस्तदभावस्त्वयोगः अर्थात् एक दूसरे को स्वीकार कर लेना ही योग है, उसका अभाव ही अयोग है।

50. दशरुपक की डा0 श्री निवास शास्त्री कृत व्याख्या पृष्ठ–381

51. विप्रयोगस्तु विश्लेषो रुढविस्त्रम्भयोर्द्विधा।

मानप्रवासभेदेन मानोऽपि प्रणयेर्श्यया।। दश0 चतुर्थ/57–58

प्राप्तयोरप्राप्तिर्विप्रयोगस्तस्य द्वौ भेदौ – मानः प्रवासश्च।

मानविप्रयोगोऽपि द्विविधः – प्रणयमानईर्ष्यामानश्चेति।

धनिककृतावलोकवृत्ति

अर्थात् एक दूसरे को प्राप्त कर लेने वाले नायक–नायिका का अलग होना ही विप्रयोग है।

52 प्रेमपूर्वको वशीकारः प्रणय, तद्भङ्गोमानः प्रणयमानः

(प्रेम के द्वारा (प्रिय को) वश में करना प्रणय कहलाता है। उसको भङ्ग करने वाला मान प्रणयमान है।)

53. स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कोपोऽन्यासङ्गिनि प्रिये।

श्रुते वाऽनुमिते दृष्टे, श्रुतिस्तत्र सखीमुखात्।।

उत्स्वप्नायित भोगाङ्गुगोत्रस्खलनकल्पित.।

त्रिधाऽनुमानिको दृष्टः साक्षादिन्द्रियगोचर·।।

दशरुपक चतुर्थ/59–60

54 दंपत्योर्दशनादेव प्ररुढगुरुरागयो.।

ज्ञेयः पूर्वानुरागोऽमम प्राप्तौ स भवेद्यथा।।

श्रृङ्गारतिलक 2/2

55. आलोकालाप संरुढरागाकुलित चेतसो.।

तयोर्भवेदसंप्राप्तौ दशावस्थ. स्मरोयथा।।

श्रृङ्गारतिलक 2/6

56. श्रृङ्गारतिलक 2/7–8

57. दशावस्थः स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम्।

स्मृतिर्गुण कथोद्वेगाप्रलापोन्माद संज्वराः

जड़ता मरणं चेति दुखस्थं यथोत्तरम्।।

दशरुपक चतुर्थ/51–52

58. श्रृङ्गारतिलक 2/9

59. दशरुपक चतुर्थ/53

60. श्रृङ्गारतिलक 1/87

61. श्रृङ्गारतिलक 1/89

62 श्रृङ्गारतिलक 1/90–91–93

63. दशरुपक चतुर्थ/53–54

64. दशरुपक चतुर्थ/54

65. श्रृङ्गारतिलक 1/92

66. काव्या0 12/31

67 साहित्यदर्पण 3/191

68. श्रृङ्गारतिलक 2/11

69. साहित्यदर्पण 3/189 साहित्यदर्पण में भी देखने व श्रवण के माध्यम बताये गये है।

70. श्रृङ्गारतिलक 2/13

71. स्मृति का लक्षण –

द्वेधो यत्रान्यकार्येषु तदेकाग्रं च मानसम्।

श्वासैर्मनोरथैश्चापि चेष्टास्ता स्मृतिरुच्यते।।

साहित्यदर्पण की डा0 निरुपण विद्यालङ्कार कृत टीका पृष्ठ–23 से

72. गुणकीर्त्तन

सौन्दर्यहसितालापैनस्त्यिन्यस्तत्समो युवा।

इति वाणी भवेद्यत्र तदुक्त गुणकीर्तनम्।।

उपरोक्तानुसार

73. शृ.ति. 2/17

74 उद्वेग –

यस्मिन् रम्यमरम्य वा न च हर्षाय जायेते।

प्रद्वेष· प्रातिव्येऽपि स उद्वेगोऽभिधीयते।।

उपरोक्तानुसार ही

75 शृ.ति 2/19

76 सा0द0 3/192

77. शृ.ति. 2/21

78 शृ.ति 2/23

79 शृ.ति 2/25

80 शृ.ति. 2/27

81. सा0द0 3/193

82. शृ.ति. 2/28–29

83 शृ.ति. 2/30

84. मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः।

व्याश्रयत्वान्न शृङ्गारः, प्रत्यापन्ने तु नेतरः।।

यथेन्दुमती मरणादजस्य करुण एव रघवंशे, कादर्ब्या तु प्रथमं करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्व प्रवास शृङ्गार एवेति।

दशरुपक – चतुर्थ/67 और अवलोक

85 सरस्वती कण्ठाभरण (परिच्छेद 5)

86. भाव प्रकाशन (पृ0 86–87)

87. रसार्णवसुधाकर (उल्लास 2)

88. साहित्यदर्पण (3–209)

89 स मानो नायिका यस्मिन्नीर्ष्यया नायक प्रति।
धन्ते विकारमन्यस्त्रीसङ्गदोषवशाद्यथा।।

श‍ृङ्गारतिलक 2/44

90 मान. स नायके य विकारमायाति नायिका सेर्ष्या।
उद्दिश्य नायिकान्तरसम्बन्धसमुद्भवं दोषम्।।

काव्यालङ्कार 14/15

91 तत्र प्रणयमानः स्यात् कोपावसितयोर्द्वयो·

दश0 चतुर्थ/58

92. प्रेमपूर्वको वशीकारः प्रणय. तद्भङ्गो मानः प्रणयमान ।

उपर्युक्त की अवलोक टीका

93 यद्यपि श‍ृ.ति 2/78 मे रुद्रभट्ट ने यह सकेत किया है कि कोप नायक की ओर से भी हो सकता है फिर नायिका को भी चाहिये कि सामदानादिक उपायों से नायक को प्रसन्न करें।

94. स प्रायशो भवेत्त्रेधा कामिनीनां प्रियं प्रति।
अवेक्ष्य दोषमेतस्य गरीयान्मध्ययो लघुः।। श‍ृ.ति. 2/46

95. गमनं ज्यायान्दोषः प्रतियोषिति मध्यमस्तथालापः।
आलोकनं कनीयान्मध्यो ज्यायान्सवयं दृष्टः।।
वसनादि नायकस्थं तदीयमार्द्रक्षतं च तस्याङ्गम्।
दोषस्य तथा गयकं गोत्रस्खलनं सखीवचनम्।।
देशं कालं पात्रं प्रसङ्गभवगमकमेत्य सविशिष्टिम।
जनयति कोपमसाध्यं सुखसाध्यं दुःखसाध्यं वा।।

96 शृ.ति. 2/53

97. शृ.ति. 2/47

98 शृ.ति. 2/49

99 रुद्रभट्ट शृ.ति. 2/62–63/ रुद्रट काव्या 14/27

100 शृ.ति. 2/64

101. काव्या0 14/28

102 शृ.ति. 2/66

103 शृ.ति 2/68

104. शृ.ति. 2/72

105 शृ.ति 2/74

106. शृ.ति. 2/76

107 काव्या0 14/32

108. शृ.ति. 2/77–82

109. शृ.ति. 2/83

110. शृ.ति. 2/92

111. दशरुपक चतुर्थ/64–65

112. दशरुपक चतुर्थ/66

113. दशरुपक चतुर्थ/66

114. शृ.ति. 2/93

115. शृ.ति. 2/98

116. शृ.ति. 2/99–101

117. शृ.ति. 1/39

118 शृ ति. 1/40

119 काव्या0 12/13

120 रुद्रट भी इन्ही तीन की गणना करते हैं काव्या 12/14

121 दश0 2/8

122 शृ.ति 1/41

123 काव्या0 12/15

124 दशरुपक, डा0 श्री निवास शास्त्री द्वारा संपादित, चतुर्थ सस्करण 1979 ई0 पृष्ठ – 160ई.

रुद्रभट्ट विरचित शृङ्गार तिलक का

आलोचनात्मक अध्ययन

शोध प्रबन्ध

चतुर्थ–अध्याय

नायक–नायिका भेद

नायक भेद

नाट्यशास्त्र के 34वें अध्याय में स्त्री तथा पुरुष पात्रो की प्रकृति तीन प्रकार की बतलाई गई है[1] उत्तम, मध्यम तथा अधम। पुनश्च उत्तम तथा मध्यम प्रकृति के ही व्यक्तियो को नायक के उपयुक्त माना गया है। अधम प्रकृति को नही। और वे नायक चार प्रकार के ही होते है[2] तीनो प्रकार की प्रकृतियो मे आचार्य भरत के अनुसार उत्तम प्रकृति का पात्र वह होता है जो इन्द्रियों को नियत्रित रखता हो, चतुर हो, विविध कला और शिल्प मे कुशल हो, इमानदार हो, विहारादि में चतुर हो, दीनों को सान्त्वना देता हो, विविध शास्त्रों को जानने वाला हो, और गाम्भीर्य, औदार्य, धैर्य, त्याग आदि गुणों से युक्त हो तो उसे उत्तम प्रकृति का पात्र समझना चाहिये।[3] इसी प्रकार जो लौकिक व्यवहार मे दक्ष, विविध कला और शिल्प मे चतुर, शास्त्रज्ञाता, उच्चाभिलाषी और मधुर स्वभाव वाला हो तो उसे मध्यम प्रकृति का पात्र समझना चाहिये,[4] एवमेव उत्तम व मध्यम पात्रो के गुण भरत के नायक के सामान्य लक्षण कहे जा सकते है। एतदोपरान्त आचार्य भरत ने नायकों का चतुर्धा विभाजन क्रमश· धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त तथा धीरप्रशान्त के रुप में किया है।[5] जो उनके शब्दों में पात्रों के स्वाभाविक आचरण से होने वाला विभाग है।[6] वे आगे बताते है कि देवता धीरोद्धत, राजा धीरललित, सेनापति और मंत्री धीरोदात्त तथा ब्राह्मण एवं वैश्य जाति के पुरुष धीरप्रशान्त प्रकृति के होते है। आचार्य भरत की परंपरा में ही लगभग सभी आचार्यो ने नायक के प्रथमतः सामान्यगुण बतलायें तदनन्तर नायकों के चतुर्धा विभाजन किये। किन्तु ये चतुर्धा विभाजन वस्तुतः नायक की प्रबन्धगत अवस्थायें है। जो काव्यशास्त्रियों को अभीष्ट है। रसशास्त्र विशेषकर श्रृंगार की दृष्टि से नायक के पुनः चार विभाग

किये गये जो क्रमशः अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट प्रकार से है। इस प्रकार 4 X 4 = 16 भेद हो जाने पर दशरुपककार ने पुन: उसके उत्तम, मध्यम व अधम भेद से 16 X 3 = 48 भेद कर दिये। उन्हीं के शब्दो मे

"षोडशानामपि प्रत्येक ज्येष्ठमध्यमाघमत्वेनाष्टाचत्वारिंशन्नायकभेदा भवन्ति।"[7]

रुपगोस्वामी ने तो नायकों के 96 भेद माने है। वे प्रथमत: नायकों का चतुर्धा विभाजन धीरोदात्तादि के भेद से करते है, तदन्तर वे उन चारो मे प्रत्येक के पूर्णतम, पूर्णतर और पूर्णभेद से तीन प्रभेद करते है। इस प्रकार 4 X 3 = 12 प्रभेदो का पति व उपपति के द्विधा भेद से 12 X 2 = 24 प्रकार हुये । इन चौबीस भेदों के अनुकूलादि (अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट) भेद से प्रत्येक के चार–चार भेद और होते है। इस प्रकार इनकी सख्या 96 हो जाती है। भरत मुनि की संमति न होने से धूर्तादि के नायक भेद नहीं दिखाये गयें है।[10] रुद्रभट्ट काव्यशास्त्री या अलंकारशास्त्री नही है वे प्रेमशास्त्री है अत: वे नायक के सामान्य गुणों का उल्लेख[8] कर चुकने के उपरान्त सीधे उसकी शृङ्गाररस सम्बन्धी चार अवस्थाओ, क्रमश: अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट का उल्लेख[9] करके इन चारों प्रकार के नायकों के क्रमशः लक्षण व उदाहरण कहते है।

नायक के सामान्य गुण (लक्षण)

आचार्य भरत के अनुसार चूँकि नायक उत्तम व मध्यम प्रकृति का ही हो सकता है अत उत्तम व मध्यम प्रकृति के पात्रों के जो गुण उन्होंने गिनायें है उन्हें ही नायक के सामान्य गुण समझा जाना चाहिये। तथापि उन्होंने नायक शब्द के सन्दर्भ में कुछ विशिष्ट बातें भी कही है। उनके अनुसार – जो आपत्ति में या किसी कष्ट को पाकर पुनः अभ्युदय प्राप्त करता है तथा जिसकी अनेक पुरुषों की

तुलना मे मुख्यता हो, उसे नायक समझना चाहिये[11] परन्तु जहाँ अनेक पुरुषो मे यहीं बात मिलती हो, तो उसमे जो सर्वोत्कृष्ट हो, उसे नायक समझना चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है कि भरत ने ये विशेषताये प्रबन्ध इत्यादि के नायको के लिये बताई है। दशरुपककार आचार्य धनञ्जय ने नेता शब्द प्रधान कथा नायक के लिये प्रयुक्त करते हुये नायक के सामान्य लक्षण इस प्रकार कहे है। नायक विनीत, मधुर, त्यागी, चतुर, प्रिय बोलने वाला, लोकप्रिय, पवित्र, वाकपटु, प्रसिद्ध वशवाला, स्थिर, युवक, बुद्धि–उत्साह–स्मृति–प्रज्ञा–कला तथा मान से युक्त, शूर, दृढ, तेजस्वी, शास्त्रो का ज्ञाता तथा धार्मिक होता है।[12] धनिक ने अपनी अवलोक टीका मे इन सभी गुणों का सोदाहरण विस्तृत विवेचन किया है। प्रबन्ध काव्यों से ततत्सम्बन्धित नायकों के नाम भी उदाहृत किये है। आचार्य विश्वनाथ ने भी नायक के सामान्य गुणों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार नायक वह होता है जो त्यागी (दानशील), कृति (वीर, कृतकार्य अथवा विद्वान, पुण्यात्मा) कुलीन (सत्कुलोत्पन्न) लक्ष्मीवान अथवा शोभासम्पन्न, रुप, यौवन और उत्साह से युक्त, दक्ष (क्षिप्रकारी) जिसमें प्रजाये अनुरक्त हों, तेजस्वी, चतुर तथा शीलवान होता है।[13]

रुद्रट के मतानुसार (नायक) रति के व्यवहार में चतुर, कुलीन, आरोग्य, रुपवान, मानी, अग्राम्य, उज्ज्वल वेष वाला, मधुर चेष्टाओं से युक्त, स्थिर स्वभाव वाला, सुखी, कलाओं में निपुण, तरुण, त्यागी, मधुरभाषी, कुशल, अभिसरण की पात्र नायिकाओं में विश्वास करने वाला, उस शृङ्गार में इतिहास प्रसिद्ध नायक होता है।[14]

रुद्रभट्ट के अनुसार त्यागी, कुलीन, रतिकार्य में कुशल, कल्प (योग्य), कलाकर, युवा, धनाढ्य, भव्य, क्षमाशील, सुन्दर, अभिमानी और स्त्रियो के मन को जानने वाला नायक होना चाहिये।[15]

इस प्रकार स्पष्ट है कि रुद्रभट्ट ने एक ऐसे नायक की कल्पना की है जिसके गुण प्रबन्धकाव्यगत नायक की तुलना मे कुछ न्यून हो सकते है पर एक शृङ्गारिक नायक के रुप में उसमे किसी प्रकार की न्यूनता शक्य नही। रुद्रभट्ट शृङ्गारतिलक के लेखक है, अतः उनका अभीष्ट ऐसा ही नायक हो सकता था। रुद्रभट्ट का नायक रुद्रट के नायक से लगभग समान है यद्यपि रुद्रट का नायक किञ्चित विस्तृत आयाम वाला है। वह आरोग्य, मधुरभाषी, कुशल तथा मधुर चेष्टाओ से युक्त इन चार गुणो में रुद्र के नायक से अग्रगण्य है। रुद्रट का नायक मानी है जबकि रुद्र का अभिमानी। शेष गुण ज्यों के त्यों है। नायक के लगभग ऐसे ही लक्षण नाट्यदर्पण (1–5–9) तथा प्रतापरुद्रीय (1/27–28) में भी दिये है।

नायक भेद

रुद्रभट्ट नायकों का चतुर्धा विभाजन करते हैं अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट।

तस्याऽनकूल दक्षिणशठधृष्टा इत्थमत्र चत्वारः।

भेदाः क्रिययोच्यन्ते तदुदाहृतयश्च रमणीयाः।।

शृ.ति. 1/28

अनुकूल— उनमें अनुकूल नायक वह है जो अपनी स्त्री के प्रति सदा अनुकूल तथा अन्य स्त्री से विमुख रहे। जैसे सीता के प्रति राम।[16]

उदाहरण रुप में वे एक पद्य देते है जिसकी नायिका अपनी सखी से कह रही है कि, हे सखि! न तो मेरे वस्त्र ही सुन्दर है,[17] न अठखेलियो से युक्त मेरी वक्रचाल है, न हंसने मे अल्हडपन है, न मुझमें कोई मद (मस्ती) है, (अर्थात् – प्रिय को रिझाने वाली कोई बात मुझमें नहीं है) फिर भी लोग ऐसा कहते है कि सुन्दर होते हुये भी इसका प्रिय दूसरी नायिका की ओर दृष्टि नहीं डालता। इतने से ही मैं अपने से अतिरिक्त सारे संसार को दुःखी मानती हूँ।

वस्तुतः नायक द्वारा नायिका के प्रति किये गये व्यवहार के अनुरुप नायक के ये शृङ्गारिक विभाग किये गये है। इनमे जो नायक स्वीया नायिका अर्थात अपनी पत्नी में पूरी तरह से अनुरक्त होता है तथा किसी भी अन्य स्त्री में कोई शृङ्गारिक रुचि नही रखता वहीं अनुकूल नायक है। इसके अतिरिक्त शेष तीनों प्रकार के नायक अन्यदीया में अवश्य आसक होते हैं और उनके उत्तरोत्तर ह्रास के अनुसार उनके दक्षिण शठ और धृष्ट क्रमशः नाम दिये गये है।

दशरुपककार ने अनुकूल नायक के लिये कहा है "अनुकूलस्त्वेक नायिकः" अर्थात् जो सिर्फ एक नायिका[18] के प्रति ही स्नेह रखता हो जैसे भवभूति के उत्तर रामचरित में राम सीता के प्रति – 'अद्वैत सुखदः खयो' इत्यादि। रुद्रट का मत है कि जिसकी अन्य कोई नायिका नही होती वह केवल प्रेम में स्थैर्य (स्थिरता) के कारण अनुकूल कहा जाता है।[19] साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ भी कहते है – 'अनुकूल एकनिरतः[20] ध्यातव्य है कि विश्वनाथ अनुकूल नायक के उदाहरण मे रुद्रभट्ट का ही पद्य[21] 'अस्माकं सखिवाससी' इत्यादि उद्धृत करते हैं। रुपगोस्वामी का विचार है कि अपनी स्त्री में अतिशय अनुरक्त तथा अन्य स्त्रियों की स्पृहा का त्यागी अनुकूल नायक कहा जाता है[22] जैसे भगवती सीता के प्रति रामचन्द्र

अनुकूल थे, तथा भगवान कृष्ण की अनुकूलता राधा मे ही प्रसिद्ध है। एक ओर जहा रुपगोस्वामी अन्य स्त्रियों की स्पृहा का त्यागी अनुकूल को बतलाते हैं वही दूसरी ओर वे उसके पति व उपपति के भेद से द्विधा विभाजन[23] करके परस्पर विरोधी बात कर देते हैं। ऐसी परिस्थति में वदतोव्याधात होता हैं, भला अनुकूल नायक उपपति कैसे हो सकता है या फिर उपपति की गणना अनुकूल नायक में कैसे की जा सकती है। रुपगोस्वामी का अनुकूल भी चार प्रकार का है धीरोदात्तानुकूल, धीरललितानुकूल, धीरशान्तानुकूल, धीरोद्धतानुकूल। इन चारो प्रभेदो के उज्ज्वलनीलमणिकार ने क्रमश. उदाहरण दिये है।

दक्षिण नायक

रुद्रभट्ट के मत मे दक्षिणनायक वह होता है जो अन्य स्त्री मे आसक होकर भी पहली स्त्री के प्रति दाक्षिण्य के भाव का त्याग नही करता।[24] (रुपगोस्वामी ने अपने ग्रन्थ उज्ज्वलनीलर्माण मे (1/29 पर) दक्षिण नायक के लक्षण मे अनामतः रुद्रभट्ट का यही पद्य (शृ.ति. 1/31) उद्धृत किया है इससे ज्ञात होता है कि रुद्रभट्ट की न केवल एक कवि के रुप में ख्याति थी बल्कि उनकी काव्यशास्त्रीय कारिकाओं का भी पर्याप्त जनसम्मान था इतना ही नही बल्कि शठनायक के लक्षण में भी रुद्रभट्ट की ही कारिका उद्धृत की है तथा अनुकूल नायक के सन्दर्भ में थोडे से हेर–फेर के साथ वही (शृ.ति. 1/29) कारिका उदाहृत की है।)

रुद्रभट्ट दक्षिण नायक के उदाहरण में एक अत्यन्त सुन्दर श्लोक लिखते है (इसका साम्य कश्मीरी कवयित्री शिलाभट्टारिका द्वारा रचित तथा आचार्य मम्मट द्वारा काव्यलक्षण में उदाहृत 'यः कौमारहर' इत्यादि श्लोक से प्रतीत होता है।)

हे सखि। इसकी (नायक की) नम्रता वही, वाणी वही है, वही क्रीडा सम्बन्धी क्रियायें है, वही भय है, पूर्व प्रेम के अनुरुप वही मधुर नर्म व्यवहार है, फिर भी अपने प्रियतम का अप्रिय चाहने वाली आप उसे दोषकलुषित ही बताती है, इस प्रकार आप का मन दिन रात चिन्ता से दोलायमान रहता है। इससे क्या लाभ है।[25]

रुद्रट का दक्षिण नायक भी बिल्कुल ऐसा ही है।[26] वह आभिजात्य भी है। रुद्रट इस का कोई उदाहरण नही देते। दशरुपककार धनञ्जय के अनुसार वह इस (पूर्व) नायिका के प्रति सहृदय (प्रीति) रखने वाला दक्षिण नायक है (दक्षिणोडस्यां सहृदयः) दशरुपक 2/7/ इसकी व्याख्या करते हुये धनिक कहते है "जो अन्य नायिका के द्वारा अपहृतचित होकर भी इस ज्येष्ठ (पूर्व) नायिका के प्रति हृदय के साथ व्यवहार करता है, वह दक्षिण नायक है।[27] इसके उदाहरण रुप में धनिक एक पद्य उद्धृत करते है।[28] एवमेव मालती माधव का भी एक पद्य उद्धृत करते है।[29] साहित्यदर्पण के रचयिता विश्वनाथ के अनुसार दक्षिण नायक वह है जो एक से अधिक स्त्रियो में तुल्य अनुराग रखता हो (वे दो या चार इत्यादि हो सकती है।)[30] इसके उदाहरण रुप में "स्नातातिष्ठति कुन्तलेश्वर सुता" इत्यादि छन्द रखते हैं।

रुप गोस्वामी ने भी यही उदाहरण दिया है । उनका लक्षण भी लगभग वैसा ही है जैसा सहित्यदपर्णकार ने किया है।[31]

वस्तुतः दक्षिण नायक नवीन नायिका से प्रेम हो जाने पर भी पूर्व (ज्येष्ठ) नायिका के प्रति अपने प्रेमपूर्ण व्यवहार में कमी आने देता, भले ही उसका हार्दिक प्रेम कम हो जाये, इसीलिए विश्वनाथ ने अनेक नायिकाओ के साथ समान रुप से

प्रेम करने वाले नायक को दक्षिण नायक बतलाया है। प्रतापरुद्रीय के अनुसार[32] वनी ''तुल्योऽनेकत्र'' दक्षिण'' यह लक्षण है।

शठ नायक

जो सामने प्रिय बोलता है और पीठ पीछे अत्यन्त अप्रिय कार्य करता है। अपराध करने पर भी चेष्टाओ से वैसा ज्ञात नही होता, वह रुद्रभट के अनुसार शठ नायक है।[33]

शठ और घृष्ट नायक शृङ्गारिक दृष्टि से अत्यन्त उपयुक्त नायक माने जाते है रुपगोस्वामी लिखते है कि नाट्यशास्त्र में शढ तथा घृष्ट दो ही परम उत्कृष्ट पति रुप में माने गये है[34] उनका तो यहाँ तक मानना है कि इस उपपतिभाव में ही शृङ्गार का परम उत्कर्ष प्रतिष्ठित है।[35] शृङ्गारी कवि होने के कारण रुद्रभट्ट भी इसी मत के मानने वाले प्रतीत होते है क्योकि उन्होने शठ और घृष्ट के दो दो उदाहरण दिए हैं। उनमे शठ का पहला उदाहरण है कि '' मृगनयनी के दोनो नेत्र दोनो कानो के पास निश्चय ही यह पूँछने के लिए गए हैं कि हम दोनो सरल और तरल हैं और आप दोनो यहां बहुश्रुत (बहुज्ञ) है। आप लोग ही ठीक– ठीक आदेश दे कि इस अपराधी प्रेमीजन (नायक) में हम लोगो का रमण करना उचित है या नहीं।[36]

शठ नायक के दूसरे उदाहरण में कवि ने जो पद्य रचा है वह अमरुशतक के श्लोक सं0 9 से भाषा शैली, भाव और शब्द से इतना अधिक एकाकार है कि मानो एक को देखकर दूसरा लिखा गया है । रुद्रट और रुद्रभट्ट को अभिन्न मानने वाले जर्मन विद्वान आर0 पिशेल की टिप्पणी इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है – शृङ्गारतिलक की सहायता से अब यह जानना संभव हो गया है कि अमरुशतक

मे आये अधिकाश पद्यो का वास्तविक आशय क्या है। विशेषकर उनके उदाहरण अमरुक के छन्दो की छाया मात्र है कुछ तो उनकी अनुकृति ही है।[37] वस्तुत. निम्नोक्त श्लोक बिल्कुल अनुकृति जान पडता है।

कोपात्किञ्चिदुपानतोऽपि रभसादाकृष्य केशेष्वलं
नीत्वा मोहनमंदिरं दयितया हारेण बद्धवा दृढम्।
भूयो यास्यसि तद्गृहानिति मुहुः कण्ठार्धरुद्धाक्षरं
जल्पन्त्या श्रवणोत्पलेन सुकृती कश्चिद्ररहस्ताड्यते।।

शृ.ति., 1/35

अब अमरु का छन्द देखें –

कोपात्कोमललोल बाहुलतिका पाशेन बद्धा दृढ़ं
नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः।
भूयोऽप्येवमिति स्खलन्मृदुगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपर प्रेयान्रुदत्या हसन्।।

अमरुशतक 9

ऐसा प्रतीत होता है जैसे रुद्र अपने अनुकर्ता (अगर रुद्र अमरु के अनुकर्ता हैं, पिशेल के अनुसार) से भी आगे बढ गयें। अमरुशतक के पद्य अपनी मधुरता, लालित्य, शृङ्गारमयता के लिये साहित्यशास्त्र में प्रसिद्ध हैं किन्तु माधुर्य गुण के प्रवाह में यहां वे रुद्रभट्ट से पिछड गये प्रतीत होते है। उनके 'दुश्चेष्टितं' में प्रतिकूलवर्णता दोष आ गया है। आचार्य मम्मट के अनुसार जिस रस में जिन वर्णों का प्रयोग विहित है वहां उसके विपरीत वर्ण के प्रयोग से प्रतिकूलवर्णता[38] नामक वाक्यदोष होता है। अथवा श्रुतिकटु नामक पद दोष होता है। शृङ्गाररस में

श्रुतिकटु[39] होने से टवर्ग का प्रयोग वर्जित माना जाता है।[40] रुद्रभट्ट के उपयुर्क्त पद मे माधुर्य में कोई न्यूनता नहीं आने पाई हैं रुपगोस्वामी ने अपने ग्रन्थ उज्जवल नीलमणि में शठ के लक्षण के प्रसङ्ग मे रुद्रभट्ट ही कारिका अवतरित की है।[41]

रुद्रट के अनुसार शठ वह है जो सामने मधुरभाषण तो खूब करता हो किन्तु निर्जन मे अपराध करता हो ऐसा उस निरपराध के समान असरल चेष्टाओ वाले को शठ कहते है ।[42] दशरुपककार के मत मे पूर्व नायिका का गुप्त रुप से अप्रिय करने वाला शठ नायक होता है।[43] इस की व्याख्या करते हुए धनिक अपनी अवलोक टीका में लिखते है " यद्यपि दक्षिण नायक का चित्त भी दूसरी नायिका के द्वारा हर लिया जाता है अत वह भी समान रुप से नायिका का अप्रिय करता है तथापि वह (पूर्व नायिका के पति) सहृदय रहता है, यही उसमे शठ नायक से अन्तर हैं।[44]

साहित्य दर्पण के अनुसार जो वस्तुतः तो एक नायिका से प्रेम करे किन्तु बाहर से दोनो नायिकाओ के प्रति प्रेम प्रदर्शित करे और छिपे रुप से दूसरी (ज्येंष्ठ) नायिका का अप्रिय करे वह शठ नायक है[45] वह लक्षण अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है । दशरुपककार और साहित्यदर्पणकार दोनो ने शठ के उदाहरण रुप मे एक ही पद्य "शठोऽन्यस्याः" आदि उद्धत किया है।

प्रतापरुद्रीय में भी यही (1.39) लक्षण है।

धृष्ट नायक – रुद्रभट्ट के मत में, अपराध करके भी निश्शंक रहने वाला, (नायिका के हाथ से) मार खाकर भी निर्लज्ज रहने वाला और अपराध पकडा जाने पर भी झूठ बोलने वाला (पुरुष) धृष्ट नायक कहा जाता है।[46]

जैसे (उन्ही का पद्य) –

"हे सखि। क्रोध से कठोर वचन बोलती हूँ फिर भी वह (नायक) बलात् मेरे मुंह को चूम लेता है, अनेक बार मारने पर भी तत्काल मेरे हाथ को अपने हाथ से पकड लेता है, सखियों के सामने भी पाद प्रहारो को नम्रतापूर्वक सर पर सहन कर लेता है, फिर भी समझ मे नहीं आता कि प्रणयवती मैं इस समय उस पर क्यों क्रोध कर रही हूँ।"[47]

अथवा दूसरा उदाहरण –

"हे धूर्त। तुम्हे धिक्कार है तुम अपनी उसी प्रेमिका का सेवन करो जिसके पद–तल के आघात को तुम्हारी छाती पर अंकित महावर का चिह्न बता रहा है, ऐसा कहे जाने पर भी जब झूठ बोलने में कुशल यह दुष्ट मेरे पैरो को नही छोड रहा है तो हे सखी! मैं इससे अधिक क्या करुँ।"[48]

प्रस्तुत दोनों उदाहरणों में प्रथम मे नायक संभवतः कनिष्ठा नायिका के पास गया था जहां उसका अपराध जान लिया गया है तथापि वह निश्शक होकर क्रोध से कठोर वचन बोले जाने पर भी बलात् नायिका का चुम्बन कर लेता है, पैरों से सखियों के सामने ताडित होने पर भी पैरों के प्रहार को नम्रता से सहन कर लेता है जिससे उसके ह्रदय पर नायिका के महावर युक्त पैरो के चिह्न बन जाते हैं पुन द्वितीय उदाहरण में वह ज्येष्ठा (पूर्वा) नायिका के समक्ष, पैरों के महावर लक्षित हो जाने पर अर्थात् पकडा जाने पर भी ढिठाई से पैरों को पकड़ कर श्रृङ्गार से विरत नहीं होता। इस प्रकार दो पद्यों में धृष्ट नायक की समस्त चेष्टाएँ रुद्रभट्ट ने कह दीं। रुद्रट के काव्यालंकार में धृष्ट नायक का लगभग यही चित्र खींचा गया है – अपराध करने पर भी जो अभीत रहता है और भर्त्सना

किये जाने पर भी जो नही डरता, दोष के बताने पर भी जो झूठ बोलता है, उसे धृष्ट कोटि का नायक जानना चाहिये।[49]

दशरुपककार के मत मे भी "व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टो" अर्थात् जिस नायक के अङ्गो में विकार अर्थात् अन्य नायिका के प्रति किये गये प्रेम चिह्न स्पष्ट प्रकट होते है (व्यक्त हो जाते है) वह धृष्ट नायक है। इस के उदाहरण मे वे अमरु का 'लाक्षालक्ष्य'[50] इत्यादि पद्य उद्धृत करते हैं। यद्यपि यह उदाहरण धृष्ट नायक का पूरा चित्रण नहीं करता तथापि दशरुपक की परिभाषा पर्यन्त आशय पूरा कर देता है। यहां नायक के पकड़े जाने का तो वर्णन है किन्तु उस पर नायक की किसी प्रतिक्रिया का अभाव है। प्रतापरुद्रयशोभूषण (विद्यानाथ रचित) (1–38) मे भी व्याक्तागा गतभीर्दृष्टः यह लक्षण है। साहित्य–दर्पण मे भी यही लक्षण है – "जो प्रेम में अपराधी हो जाने पर भी निश्शंक रहता है, झिडकी खाने पर भी लज्जित नही होता, स्पष्टतः दोषो के प्रगट हो जाने पर भी झूठ बोल देता है, वही धृष्ट नायक है।"[51]

रुपगोस्वामी भी कुछ इसी प्रकार धृष्ट के लक्षण देते है[52] "अन्य तरुणी के साथ संभोग के लक्षण प्रकट होने पर भी निर्भीक रहने वाला तथा मिथ्या वचन बोलने में परम प्रवीण नायक धृष्ट कहा जाता है।"

मेरे मत में ये अनुकूलादि नायक व्यक्ति के चरित्रह्रास के उत्तरोत्तर क्षीण क्रम में चारों चरण है। व्यक्ति जब तक पूर्णतया चरित्रवान व शीलवान होता है वह पूर्णतः सामाजिक मर्यादा का पालन करते हुये एक पत्नीव्रतधारी रहता है। उसका शृङ्गार सिर्फ अपनी प्रियतमा के लिये है किसी अन्यदीया के प्रति वह

कदाचित् आकृष्ट नही हो सकता। वह सर्वोत्तम चरित्र का आदर्श नायक अनुकूल कहा जाता है। यह उत्तम या सर्वोत्कृष्ट नायक है। भरत ने भी कहा है –

मधुरस्त्यागी रागं न याति मदनस्य नापि वशमेति।

अवमानितश्च नार्या विरज्येत स तु भवेज्ज्येष्ठः।।[53]

अर्थात जो मधुर तथा त्यागी है न तो काम मे राग (आसक्ति) रखता है न उस (काम) के वशीभूत होता है, तथा नारी के द्वारा तिरष्कृत होने पर विरक्त हो जाता है। वह ज्येष्ठ (उत्तम) नायक होता है। यद्यपि धनिक[54] ने इसे दक्षिण नायक के लिये प्रयुक्त किया है और 'रागं न याति' का अर्थ किसी एक के वश में न वाला, अर्थ लिया है किन्तु जो त्यागी होगा, जो मदन के वश मे नही आने वाला होगा वह किसी के वश में नहीं आयेगा। मेरे अभिमत मे यह अनुकूल नायक है जो अपनी भार्या में स्नेह तो रखता है किन्तु उत्तम प्रकृति का होने से वह उसमें आसक्त नहीं होता अन्यथा फिर उसका मन स्त्री के द्वारा की अवमानना से विरक्त भी नहीं हो पायेगा। दूसरे चरण में व्यक्ति के चरित्र में किञ्चित ह्रास आता हैं तब वह अन्य स्त्री (नायिका) की ओर कामाभिमुख तो हो जाता है किन्तु, रुद्रभट्ट के शब्दों में, वह अपनी पूर्वा नायिका के प्रति जो गौरव, भय और प्रेम और जो औदार्य (दाक्षिण्य) है उसका परित्याग नहीं कर पाता। वह दक्षिण नायक होता है तीसरे चरण मे उसका थोड़ा सा अधः पतन और होता है जब वह मुंह पर तो दोनो के खूब मधुर भाषण करता है किन्तु ह्रदय से वह पूर्वा नायिका का अप्रिय चाहने लगता है और गुप्त रुप से उसका अहित साधन भी करने लगता है। यह शठ नायक होता है। लेकिन अभी भी चरित्र की कुछ मर्यादायें शेष थी जिनका पूर्णतया ह्रास हम धृष्ट नायक में पाते हैं जो अपराध के सप्रमाण पकडे जाने पर भी ढिठाई से अड़ा रहता है। नायिका के द्वारा तर्जित होने पर भी उसे

कोई फर्क नही पडता तथा अपने अपराध को वह मानने को भी तैयार नहीं होता। यद्यपि ये चरित्रह्रास की उत्तरोत्तर अवस्थाएँ हैं तथापि शृङ्गारिक नाट्य या काव्य इत्यादि की दृष्टि से उत्तरोत्तर नायक के श्रेष्ठत्व का उपादान होता है। वैष्णव भक्त कवियो (जयदेव, रुपगोस्वामी) आदि ने तो उपपतित्व तथा परकीया प्रेम को ही शृङ्गार का श्रेष्ठ तत्व माना है।

यद्यपि रुद्रभट्ट ने शृङ्गार अभीष्ट होने से नायक के सिर्फ शृङ्गार अवस्थागत भेद का ही वर्णन किया है (रुद्रट ने भी ऐसा ही किया है जो स्वाभाविक भी है क्योकि वे शृङ्गार का ही वर्णन करने जा रहे है) तथापि नायक भेद प्रकरण में यह उचित है कि नायक के प्रबन्धादिगत भेदो पर भी किञ्चित विचार कर लिया जाये।

दशरुपककार के अनुसार नायक ललित, शान्त, उदान्त और उद्धत भेद से चार प्रकार का होता है, [55] भरत ने भी यही 4 भेद किये हैं, [56] साहित्यदर्पणकार को भी यही चार भेद अभीष्ट हैं[57] इनके लक्षण इस प्रकार हैं –

(1) धीर ललित

दशरुपककार के अनुसार धीर–ललित नायक चिन्तारहित, (गीतादि) कलाओ का प्रेमी, सुखी तथा कोमल (स्वभाव तथा आचार वाला) होता है।[58] भरत ने धीरललित नायक राजा को बताया है।[59] धनिक ने अपनी अवलोक टीका में इसे और स्पष्ट किया है[60] कि – "वह चिन्ता रहित होता है क्योंकि उसके योग (अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योगः) तथा क्षेम (प्राप्तस्य परिरक्षणं) की रक्षा अमात्यादि के द्वारा की जाती है अतएव वह चिन्तारहित होने से गीतादि कलाओं में संलग्न रहता हैं तथा भोगों में आसक्त रहता है। उसमें शृङ्गार की प्रधानता होने के कारण उसे मृदु

कहा गया है। रत्नावली के महाराज वत्सराज तथा अभिज्ञान के दुष्यत धीर ललित नायक हैं। साहित्य दर्पणकार का भी यही मत है।[63]

धीर शान्त

दशरुपककार ने सामान्य गुणो से युक्त द्विजादि नायको को धीर शान्त कहा है।[61] भरत के अनुसार ब्राह्मण तथा वैश्य जाति के पुरुष धीर प्रशान्त प्रकृति के होते है।[62] धनिक ने इसी की व्याख्या करते हुये लिखा हे कि विनय इत्यादि जो नायक के सामान्य गुण कहे गये है उनसे युक्त द्विज आदि धीरशान्त होता है। आदि यह पद प्रकरण के नायक होने वाले ब्राह्मण वणिक और मन्त्री आदि का उपलक्षण है। और यह कहना अभीष्ट ही है। इस प्रकार निश्चिन्तता इत्यादि गुणों के होने पर भी (प्रकरण के नायक) विप्र इत्यादि में शान्तता तो होती है, लालित्य नहीं। जैसे, मालती माधव व मृच्छकटिक इत्यादि में माधव एवं चारुदत्त इत्यादि धीरप्रशान्त नायक है। साहित्यदर्पणकार इससे पूरी तरह सहमत है।[64]

धीरोदात्त

आचार्य धनञ्जय के अनुसार "उत्कृष्ट अन्तःकरण" (सत्व) वाला, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, आत्मश्लाघा न करने वाला, स्थिर अहंभाव को दबाकर रखने वाला, दृढव्रती नायक धीरोदात्त नायक होता है।[65] भरत के अनुसार[66] सेनापति और मन्त्री धीरोदात्त होते है। धनिक की व्याख्यानुसार महासत्व अर्थात् जिसका अन्तःकरण शोक, क्रोध आदि से अभिभूत नहीं होता। अविकत्थन का अर्थ है अपनी प्रशंसा न करने वाला निगूढ़ाहङ्कार.का अर्थ है कि उसका गर्व (अवलेव) नम्रता से छिपा रहता है। दृढ़व्रत वह होता है जो स्वीकृत बात का निर्वाह करता है। ऐसा धीरोदात्त नायक होता है। नागानन्द के जीमूतवाहन और महानाटक के राम को ये

धीरोदात्त मानते है। साहित्यदर्पणकार के शब्दो मे यही बात पूर्णरुपेण आती है[67] वे राम और युधिष्ठिर आदि को धीरोदात्त मानते है।[68]

धीरोद्धत

दशरुपककार के मत मे धीरोद्धत वह है जिसमे घमण्ड (दर्प) और डाह (मात्सर्य) अधिक होता है। जो माया और कपट मे तत्पर होता है। तथा अहङ्कारी, चञ्चल तथा आत्मश्लाधा करने वाला होता है।[69] धनिक के शब्दो मे दर्प अर्थात् शूरता आदि का घमण्ड, मात्सर्य = (दूसरों की समृद्धि को) न सहना, मन्त्र की शक्ति से अविद्यमान वस्तु को प्रगट कर देना माया कहलाती है और किसी को छलना मात्र ही छद्म हे। चंल = चञ्चल तथा चण्ड अर्थात् क्रोधयुक्त। विकत्थन अर्थात् अपने गुणों की प्रशंसा करने वाला। धनिक धीरोद्धत का उदाहरण कैलासोंद्धारसार० इत्यादि के परशुराम को तथा "त्रैलोक्यैश्वर्यलक्ष्मी०" इत्यादि के रावण को बताते है।[70]

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार[71] मायावी, उग्र प्रकृति वाला, अहंकार (मैं महान हूँ, इस प्रकार का ज्ञान विशेष अहङ्कार कहलाता है) और दर्प (शौर्य) की बहुलता वाला, अपनी प्रशंशा का गान कने वाला नायक धीरपुरुषों के द्वारा धीरोद्धत कहलाता है जैसे – भीमसेनादि।

आचार्य भरत के अनुसार देवता धीरोद्धत होते है देवा· धीरोद्धताः।[72]

भवभूति ने जो एक ही परशुराम को ब्राह्मणातिक्रमत्यागो[73] इत्यादि कथन में रावण के प्रति धीरोदात्त रुप में चित्रित किया है, कैलासोद्धर सार०[74] में रामादि के प्रति पहले तो धीरोद्धत रुप में पुनः पुण्या०[75] इत्यादि के द्वारा धीरशान्त के रुप में वर्णित किया है उसका निवारण करते हुये अवलोककार कहते है[76] कि जिस

प्रकार से वत्स (बछड़ा), वृषभ (बैल) तथा महोक्ष (बडा बैल) एक ही व्यक्ति की भिन्न–भिन्न अवस्थाओं को बतलाते है। वस्तुत अङ्गभूत (अप्रधान) नायकों का महासत्वादि होना अन्य नायको की अपेक्षा अव्यवस्थित (अनियत) होता है।[77] अर्थात् अङ्गभूत (अप्रधान) नायक में ही अनेक अवस्थाओ का वर्णन किया जा सकता है, एक प्रधान नायक में नही। जबकि एक ही प्रधान नायक मे दाक्षिण्य आदि अनेक अवस्थाओं का वर्णन किया जा सकता है। नाट्यदर्पण (1–6) के अनुसार एक ही अप्रधान नायक मे अनेक स्वभावों का वर्णन किया जा सकता है। नाट्यशास्त्र में भी उदात्तत्व आदि चारों अवस्थायें शील पर आश्रित मानी गई हैं।[78]

इस प्रकार दशरुपककार तथा साहित्यदर्पणकार[79] आचार्य विश्वनाथ के मत में नायक के अडतालिस भेद, रुद्रट व रुद्रभट्ट मत में चार भेद तथा रुपगोस्वामी के मत में नायक के 96 भेद होते है जिसका हम अध्याय के आरंभ में प्रतिपादन कर चुके है। कामशास्त्र के अन्तर्गत दत्तादि भेद से चार प्रकार के नायक कहे गये है।[80]

पुनश्चतुर्धा कथितः कामशास्त्रेषु जातितः।
दत्तो भद्रः कूचिमारः पाञ्चाल इति सूरिभिः।।
पद्मिनीबल्लभो दत्तो, भद्रः स्यात्त्चित्रिणीप्रियः।
पाञ्चाल कूचिमारौ तु पद्मिनीशंखिनी प्रियौ।

इति मन्दारपरन्दे शुद्धविन्दौ।

इस प्रकार से ये नायक–भेद कहे गये। दशरुपककार ने नायक के 8 सात्विक गुण भी बतलाये है जो हैं शोभा, विलास, माधूर्य, गम्भीरता, स्थिरता, तेजस ललित तथा औदार्य।[81] इनके लक्षण व उदाहरण भी देते हैं।

नायिका भेद

रुद्रभट का नायिका–भेद प्रकरण रुद्रभट्ट के नायिका भेद से अत्याधिक साम्य र,खता है। अधिकाश कारिकाएँ थोडे से शब्दो के हेर–फेर के साथ वैसी की वैसी मालूम होती है । किन्तु रुद्रभट्ट ने यदि अनुकरण किया भी हो तो वही तक, जहॉ तक उनकी अपनी शास्त्रीय मान्यता रुद्रभट्ट के काव्यालङ्कार से मेल खाती है, अतः वे इसी प्रकरण में अपना वैशिष्ट्य भी रखते है । वेश्या के लक्षण में हम देख चुके है कि वे अपने पूर्ववर्ती का खण्डन करने में भी नही चूके है। रुद्रट ने 58 प्रकार की नायिकायें[82] बताई है। यही रुद्रट से उनका भेद है। रुद्रट सर्वप्रथम नायिका के तीन भेद करते है आत्मीया (आत्मसक्ता) परकीया (अन्यसक्ता) तथा सर्वाङ्गना (सर्वसक्ता)। पुनः आत्मीया के तीन भेद मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा नाम से करते है। अब मुग्धा को छोड़कर शेष दोनों के (मध्या और प्रगल्भा के) पुन धीरा, मध्या और अधीरा भेद से तीन–तीन भेद हो जाते है। अब इन छहों के ज्येष्ठा और कनिष्ठा भेद से पुनः दो–दो भेद होकर 6 × 2 = 12 व एक मुग्धा भेद मिलाकर 13 आत्मीया (स्वीया) नायिकायें हुई। परकीया के कन्या व ऊढा दो भेद होते है और सर्वाङ्गना एक ही प्रकार की। कुल मिलाकर 16 भेद (13 स्वीया + 2 परकीया + 1 वेश्या) हुये। अब इन सभी के पुनः दो भेद किये गये है[83] अभिसारिका और खण्डिता। इस प्रकार कुल नायिकायें 32 हो जाती है जिनमें आत्मीया या स्वीया 13 × 2 = 26 प्रकार की है। तथा स्वीया के स्वाधीनपतिका

और प्रोषितपतिका के भेद से पुन· दो भेद होते है। इस प्रकार पहले से 26 प्रकार की स्वीया अब स्वाधीनपतिका और प्रोषितपतिका के भेद से 26 × 2 = 52 प्रकार की हो जाती है। उसमें 4 प्रकार की अन्यदीपा व 2 प्रकार की वेश्या को मिलाकर कुल 52+4+2 = 58 नायिका भेद बन जाते है। भावप्रकाशन के सम्पादक महोदय ने काव्यालङ्कार के सम्पादक द्वारा प्रक्षिप्त मानी गयी 12/40 के बाद की 14 कारिकाओ की मूल मानने का आग्रह करके एक विवाद उपस्थित कर दिया कि इस प्रकार से रुद्रभट्ट और रुद्रट दोनो परस्पर अभिन्न हैं और यहां भी 384 प्रकार की नायिकायें मानी गयी है। वस्तुतः काव्यालङ्कार के सम्पादक ने 14 आर्याओं को ठीक ही प्रक्षिप्त मान कर छोड दिया है। यह किसी ' शृङ्गारतिलक' और 'काव्यालङ्कार' को एक ही लेखक की कृति मानने वाले का प्रयत्न लगता है, जिसमें उसने 384 प्रकार की नायिकायें सिद्ध करने के लिये यह अंश बलात् डाल दिया प्रतीत होता है, और 41 वी कारिका की इससे सङ्गति नहीं बैठती इस ओर ध्यान नहीं दिया।[84] तथापि इस अनुचित पिष्टप्रेषण के उपरान्त भी नायिकाओं के 384 भेद सिद्ध नही हो पाते और जिस ऐक्य–प्रदर्शन हेतु यह इतना प्रयास हुआ वह फिर भी न हो सका। 384 प्रकार की नायिकाये तो तब होतीं जब 41वी कारिका न होती। यह सर्वथा उपहास जनक लगता है कि भाव प्रकाशन के सम्पादक महोदय 41वीं कारिका को भी मूल मानते है और 14 प्रक्षिप्त आर्याओं को भी, जबकि इन 14 कारिकाओं की संगति मूल के साथ किसी भी प्रकार से नहीं बैठती। नमिसाधु की 44वीं कारिका की वृत्ति से यह सुतरां स्पष्ट है कि रुद्रट ने अवस्था के अनुसार नायिका का अष्टधा वर्गीकरण नहीं किया है। नमिसाधु का कथन है–

"तत्र वासकसज्जा च विरहोत्कण्ठितापि।
स्वाधीनभर्तृका चापि कलहान्तरिता तथा।
खण्डिता विप्रलब्धा च तथा प्रोषितभतृका।
तथाभिसारिका चैव इत्यष्टौ नायिकाः समृताः।
तदत्रापि संगृहीतम्।"

यदि रुद्रट ने नायिका का अष्टधा वर्गीकरण किया होता तो नमिसाधु को तदत्रापि सगृहीतम् कहने की आवश्यकता न होती। ऊपर नमिसाधु ने कहा है – "तेन विप्रलब्धा कलहान्तरिते अत्रान्तभूते।" अर्थात् खण्डिता में ही विप्रलब्धा और कलहान्तरिता का अन्तर्भाव किया है। प्रक्षिप्त कारिका में अभिसन्धिता शब्द विप्रलब्धा का स्थानापन्न हैं। इस प्रकार यह सङ्गत नहीं लगता कि एक बार 16 प्रकार की नायिकाओं को अवस्था के अनुसार अभिसारिका आदि आठ प्रकार की बताकर पुनः अभिसारिका और खण्डिता दो भेद किये जाये।[85] इस प्रकार रुद्रट के अनुसार 58 भेद ही रहते है। इन अठ्ठावन भेदो मे से 16 भेद तक तो रुद्रभट्ट, रुद्रट से पूरी तरह सहमत है किन्तु उसके बाद वे इन सभी 16 प्रकार की नायिकाओं को सीधे आठ प्रभेदो में वर्गीकृत करते हैं –

स्वाधीपतिकोत्का च तथा वासकसज्जिता।
अभिसन्धिता विप्रलब्धा खण्डिता चाभिसारिका।।
प्रोषितप्रेयसी चैव नायिकाः पूर्व सूचिताः।
ता एवात्र भवन्त्यष्टाववस्थाभिर्पुनर्यथा।।

शृ.ति. – 1/131–132

इस प्रकार ये 16 × 8 = 128 प्रकार की हो जाती है। अब वे पुन· उनके उत्तमा, मध्यमा व अधमा के भेद से तीन प्रकार के भेद करते है व 128 × 3 = 384 प्रकार की नायिकायें हो जाती है। रुद्रभट्ट ने अपने नायिका भेद को सिर्फ दो कारिकाओं मे ही स्पष्ट कर दिया है – देखे –

त्रयोदशविद्या स्वीया द्विविधा च पराङ्गना।

एका वेश्या पुरश्चाष्टाववस्था भेदतो मताः।।

पुनश्च तास्त्रिधा सर्वा उत्तमाध्यमाधमाः।

इत्थं शतत्रयं तासामशीतिश्चतुरुत्तरा।।

शृ.ति. 1/154–155

कालान्तर में आचार्य विश्वनाथ ने भी नायिका के इसी तरह से 384 भेद किये[86] किन्तु वे पुनः इनके लिये कहते हैं कि इनके इतर भेद भी (पद्मिनी, हस्तिनी, इत्यादि तथा दिव्या दिव्यादि) असंख्य हैं किन्तु उन्हे विस्तार की आशका से नहीं कहा जाता है।[87] इस प्रकार से रुद्रभट्ट का नायिका भेद ही उन्हें भी अभिमत है। अब रुद्रभट्ट के नायिका भेद की विशद विवेचना करते है। साथ ही साथ विभिन्न विद्वानों के मतों का उल्लेख भी करेंगें। रुद्रभट्ट अपने शृङ्गारतिलक नामक काव्यालङ्कार के प्रथम परिच्छेद में नायक और उसके सहयोगी नर्मसचिवादि का सक्षिप्त उल्लेख कर पुनश्च[88] उस नायक की तीन प्रकार की नायिका बताते हैं– (1) स्वकीया (2) परकीया तथा (3) सामान्यवनिता। उनके अनुसार ये तीनों प्रकार की नायिकायें कला कलाप कुशला अर्थात् कलाओं में निपुण होती है।[89] साहित्यदर्पणकार के अनुसार नायक के सामान्य गुणों से युक्त (अर्थात् दक्षता, उत्साह और तेज इन तीन को छोड़कर शेष सभी गुणों से युक्त) नायिका होती

साहित्यदर्पण मे मुग्धा के पाच लक्षण[101] दिये हैं (वस्तुत· इन्हे मुग्धा के भेद–प्रभेद न कह कर इन्हे मुग्धा के लक्षण कहने चाहिये क्योकि आचार्य रुद्रभट्ट ने आगे 1/82 में स्पष्ट कहा है कि इनके भेद कवियों के द्वारा नहीं बताये गये है।) ये पांचो है क्रमश· प्रथमावतीर्णयौवनविकारा, प्रथमावतीर्णमदनविकारा, रतौ वामा, माने मृदुश्च, समाधिक लज्जावती च। ये सभी पूर्व की भाति ही स्पष्ट है। रुद्रट अपने काव्यालङ्कार में कहते है वह नवोढा (नवपरिणीता) होती है, नवयौवन जनितमन्मथोत्साहा होती है तथा उसका प्रेम भय और लज्जा के कारण अव्यक्त (भय और लज्जा से प्रेम को छिपाने वाली) होती है।[102] इस प्रकार हम पाते है कि सभी आचार्यो ने मुग्धा के लगभग एक से लक्षण किये है तथापि रुद्रभट्ट की मुग्धा रुद्रट की मुग्धा के सर्वाधिक निकट है। अन्तर है तो सिर्फ इतना कि रुद्रट ने मुग्धा इत्यादि के उदाहरण हीं दिये है, जबकि रुद्रभट्ट की विशेषज्ञता व चारुता उनके उदाहरण पद्यों में ही दृष्टिगोचर होती है। उनके ये मौलिक उदाहरण मुग्धा इत्यादि के तत्वभेदन में सिद्धहस्त हैं। मुग्धा का सुरत स्वभाव रुद्रट भी बताते है[103] और रुद्रभट्ट भी।[104] दोनों की मुग्धायें शय्या पर देर तक करवट करके लेटी रहती है आलिङ्गन व चुम्बन करने पर मुंह को हटा लेती है तथा चूमने पर कांप जाती है। किन्तु रुद्रभट्ट की मुग्धा रति की इच्छा भी करती है। यही अन्तर है जो रुद्रभट्ट की मुग्धा में शृङ्गार का मृदु आधिक्य दर्शित करता है। इसे हम साहित्यदर्पणकार की मुग्धा में देख सकतें हैं जो न सिर्फ रतौ वामा है अपितु प्रथमावतीर्णमदनविकारा भी है। इसी भाव को रुद्रभट्ट ने नवानङ्गरहस्या कह कर भी व्यक्त किया है अर्थात् वह अनङ्ग (काम) के नवीन रहस्य से अनजान है किन्तु अनजान होने से उसे जानने का कौतूहल भी है, यह ध्वनि आती है।

आगे रुद्रभट्ट मुग्धा के मान के ढङ्ग व उसे मनाने के उपाय भी बतलाते है। उनके अनुसार मुग्धा अपने प्रिय पर (अन्या निषेवमाणे) उसके अन्य स्त्री का सेवन करने पर क्रुद्ध तो हो जाती है किन्तु स्वल्प अनुनय से ही मान भी जाती है।[105] वे कहते है मुग्धा को मनाते समय अधिक डराने वाले वाक्यो से नहीं अपितु बच्चों की बोली के समान वाक्य प्रबन्धों से तथा कोमल उपायों से सान्त्वना देते हुये नायक मुग्धा को मना ही लेता है।[106] जैसे उदाहरण[107] साहित्यदर्पणकार व दशरुपकार ने मुग्धा के सुरतस्वभाव के सम्बन्ध में ही "माने मृदुः" यह कहा है।

मध्या नायिका का सामान्य लक्षण यह है कि यह मुग्धा नायिका की अपेक्षा कुछ अधिक कामपरवशा होती है। रुद्रभट्ट के अनुसार[108] आरुढयौवना, प्रादूर्भूतमनोभवा, किञ्चित्प्रगल्भवचना और विचित्रसुरता नायिकाये मध्या कहलाती हैं। साहित्यदर्पणकार ने भी मध्या का लक्षण लगभग इन्हीं शब्दो मे किया है।[109] अर्थात् मध्या विचित्रसुरता[112] (निपुणता के कारण रम्य है सुरत जिसका ऐसी) प्ररुढस्मरा (अत्यन्त प्रबल है कामदेव जिसका ऐसी) प्ररुढयौवना (विकसीत यौवन वाली) ईषत्प्रगल्भवचना – कुछ धृष्टता से युक्त हैं वचन जिसके ऐसी मध्यमव्रीडिता – अर्थात् मध्यम लज्जाशीला (मुग्धा सर्वाधिक लज्जाशील) नायिका होती है। इनमें केवल 'मध्यम व्रीडिता' शब्द रुद्रभट्ट ने नहीं कहा है। रुद्रभट्ट के 'प्रादुर्भूतमनोभवा' को ही विश्वनाथ ने 'प्ररुढस्मरा' कहा है, शेष सभी पूर्ववत् ही है। रुद्रट ने काव्यालङ्कार में मध्या को इस तरह बताया है – वह (मध्या) आरुढयौवनभरा (यौवन शिखर पर आरुढ़ अर्थात् पूर्ण युवती) मध्याविर्भूत है (प्रगल्भा में पूर्ण आविर्भाव प्राप्त होता है।) उद्‌भिन्नप्रागल्भ्या – प्रागल्भता कुछ–कुछ स्फुट होती है (अतएव मध्या है।) तथा किञ्चिद्धृतसुरतचातुर्या – रति में

किञ्चित नैपुण्य प्राप्त होती है। रुद्रभट्ट ने रुद्रट के आरुढयौवनभरा को आरुढयौवना, मध्याविर्भूतमन्मथोत्साहा को प्रादुर्भूतमनोभवा तथा उद्भिन्नप्रागल्भ्या को किञ्चित्प्रगल्भवचना और रुद्रट के किञ्चिद्धृतसुरतचातुर्या को विचित्रसुरता कहकर सम्बोधित किया है।

दशरुपककार का मत है कि जिसमे यौवन और काम का उदय हो रहा हो और जो मोह–पर्यन्त (बेसुधी अवस्था पर्यन्त) रति करने मे समर्थ हो वह मध्या नायिका होती है।[110] इसे धनिक अपनी अवलोक टीका में और स्पष्ट करते हैं– "सम्प्राप्ततारुण्यकामा मोहान्तरतयोग्या मध्या"। रुद्रभट्ट मध्या का सुरत स्वभाव[111] मध्या प्रिय का प्रगाढ आलिङ्गन करती है, रतिकाल में प्रिय का जैसे पान ही कर जाती है। आलिङ्गन के समय उसके अङ्गों मे समा सी जाती है और आनन्द में मोह को प्राप्त सी हो जाती है। रुद्रट भी ऐसा ही लिखते है।[113]

रुद्रभट्ट ने सभी आचार्यो की भांति मध्या नायिका के तीन प्रभेद किये है। ये हैं क्रमशः धीरा, मध्या और अधीरा। दशरुपककार ने भी ये ही तीन भेद किये हैं जिनमें धनिक ने मध्या नामक भेद को 'धीराधीरा' यह नाम दिया है। रुद्रभट्ट के अनुसार मध्या धीरा वह है जो अपराधी प्रिय से क्रोध से वक्रोक्ति के द्वारा बोलती है। (रुद्रट के अनुसार क्रुद्ध होकर व्यंग्य से बोलती है।) मध्या मध्या वह है जो उपालम्भपूर्णवचनों से बोलती है। (रुद्रट के अनुसार ऑसू बहाकर उलाहना देती है), तथा अधीरा वह है जो कटु वचन बोलती है। (रुद्रट का भी यही मत है)। लगभग यही बात दशरुपककार भी कहते है[114] समस्त का अभिप्राय इतना ही है कि ये तीनों मध्या की अवस्थायें है जो क्रमशः उत्तरोत्तर प्रागल्भ्य को प्राप्त करती है। मध्या का जो सुरत–स्वभाव कवि ने पूर्व में कहा है वह एक सामान्य

पर्यालोचन मात्र है। वस्तुत तीनो प्रकार की मध्या नायिका के रतिवर्णन मे भी कुछ अवान्तरभेद हो सकता है। धनिक अपनी अवलोकटीका में लिखते है कि–

"एवमपरेऽपि व्रीडानुपहिताः स्वयमनभियोगकारिणों मध्याव्यवहारा भवन्ति।"

अर्थात् 'व्रीडानुपहित' पद कहकर वे मुग्धा से (मुग्धा के व्यवहारों से) से उसका व्यावर्त्तन दिखलाते है। व्रीडानुपहित अर्थात् लज्जा की उपाधि से रहित, मुग्धा के व्यवहार लज्जा से आच्छादित (लज्जासवृत्त) होते हैं। किन्तु मध्या के व्यवहार सर्वथा लज्जा से आच्छादित नही होते। हां, उनमे लज्जा रहती अवश्य है। इसीलिये साहित्यदर्पण[115] में उसे मध्यमव्रीडिता कहा गया है। इसी प्रकार से स्वय अनभियोगकारिणः कहकर मध्या का प्रगल्भा से भेद दिखलाया गया हे। 'स्वयं अनभियोगकारिणः' अर्थात् नायक की सुरत में स्वयं प्रवृत्ति न कराने वाली। प्रगल्भा नायिका नायक को सुरत में स्वय प्रवृत्त कराने वाली होती है। जैसा कि 'रतप्रगल्भा' पद से विदित होता है। भाव0प्र0 में भी कहा गया है –

'प्रगल्भाऽऽरभते स्वैरं बाह्ये चाभ्यान्तरे रते।'

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ मध्या के तीनों भेद और स्पष्ट कहते है। वे मध्या धीरा के उदाहरणस्वरुप माघकृतशिशुपालवध के एक श्लोक 'तदवितथमवादीर्यादि'[116] उद्धृत करते है। तथा धीरा धीरा के उदाहरण में अमरुशतक का बालेनाथविमुञ्च[117] इत्यादि उदाहरण उद्धृत करते है (रुद्रभट्ट ने बिल्कुल इसी भाव से मिलते जुलते शब्दों वाला 'कान्ते किं कुपितासि'– शृति. 1–157–उदाहरण उत्तमा नायिका के प्रसङ्ग मे दिया है।) आचार्य विश्वनाथ ने इसे ठीक ही धीरा धीरा कहा है – धीरा इसलिये है क्योंकि प्रत्येक प्रश्न का उत्तर सोच समझ कर दिया है। और क्योंकि वह नायिका रो रही है अतः अधीरता भी प्रगट हो रही है। इसी क्रम में आगे उन्होंने अधीरा के उदाहरण में रुद्रभट्ट का

ही पद्य (सार्धं मनोरथशतैः शृति. – 1/68) दिया है। जिसे रुद्रभट्ट ने भी अधीरा मध्या का ही उदाहरण कहा है।

अब प्रगल्भा के स्वरुप पर विचार करते है। रुद्रभट्ट ने प्रगल्भा नायिका का लक्षण इस प्रकार किया है –

लब्धायातिः प्रगल्भा स्यात्समस्तरतिकोविदा।

आक्रान्तनायका बाढ़ं विराजद्विभ्रमा यथा।।

अर्थात् प्रगल्भा लब्धायति (आयति = कुशलता, परिपक्वता को प्राप्त कर चुकी) समस्तरतिकोविदा (अर्थात् समस्त प्रकार से रति के ज्ञान मे निपुण) आक्रान्तनायका (नायक के ऊपर अधिकार करने वाली) तथा विराजद्विभ्रमा होती है।

रुद्रट का प्रगल्भालक्षण रुद्रभट्ट से सर्वाधिक साम्य रखता है – द्रष्टव्य –

लब्धायतिः प्रगल्भा रतिकर्मणि पण्डिता विभुर्दक्षा।

आक्रान्तनायकमना निर्व्यूढ़विलासविस्तारा।।

काव्या० 12/24

लब्धायति प्रगल्भा बिल्कुल वही है रतिकर्मणिपण्डितः को रुद्र ने समस्त रतिकोविदा कहा है रुद्रट के आक्रान्तनायका को रुद्रट ने आक्रान्तनायकमना कहा है जो कि ठीक भी है, रुद्र की विराजद्विभ्रमा सम्भवतः रुद्रट की निर्व्यूढ़विलासविस्तारा ही है।

जहां तक प्रगल्भा के सुरतस्वभाव का प्रश्न है, रुद्रभट्ट की प्रगल्भा सुरत में निराकुल (अर्थात् सुरत से आकुल न होने वाली, न घबड़ाने वाली), प्रिय के अङ्गों में पिघल कर समा जाने वाली, अत्यन्त रस में लीन होने के कारण यह नहीं समझ पाती है कि यह कौन है, मैं कौन हूँ, या सुरत क्या है।[118] अधिकांश विद्वानों

ने सुरत में प्रगल्भा का ऐसा ही वर्णन किया है। सर्वाधिक साम्य यहा भी रुद्रट से ही दृष्टिगोचर होता है। देखे क्रमशः दोनो के लक्षण –

रुद्रट की प्रगल्भा

निराकुला रतावेषा द्रवतीव प्रियाङ्गके।
कोऽयं काऽहं रतं किंवा न वेत्यतिरसाद्यसा।।

शृ.ति., 1/74

<u>रुद्रट की प्रगल्भा</u>

सुरते निराकुलाऽसौ द्रवतामिव याति नायकस्याङ्गे।
न च तत्र विवित्तुमलं कोऽयं काहं किमेतदिति।।

केवल शब्दों के इतस्ततः रख देने के अन्तर मात्र से दोनों के श्लोक शब्दशः समान है। रुद्रभट्ट की रुद्रट के प्रति अनुकरणीयता का यह एक दृढ साक्ष्य है या कहें कि इतना निस्संदिग्ध रुप से कहा जा सकता है कि एक को देखकर दूसरे ने लिखा है। अब केवल इतना बाकी रह जाता है कहने को, कि पहले कौन हुआ। फिर भी एक बात दृष्टव्य है कि रसकृत या कहें कि शृङ्गारकृत, माधुर्य की अभिवृद्धि करने में, उसके आधिक्य में रुद्र ने किञ्चिन्मात्र न्यूनता अवशिष्ट न रखी। यहां भी वे द्वितीय पंक्ति में रुद्रट के विपरीत मोह का कारण अतिरसाद् (रस की अधिकता के कारण) कहना नहीं भूले। शृङ्गार और माधुर्य का अभिवर्धन उनका एक मौलिक वैशिष्ट्य है।

प्रगल्भा का यही लक्षण सभी विद्वानों ने किया है। दशरुपककार ने इसी बात को थोडा और स्पष्ट किया है।[119] उनके अनुसार जो यौवन में अन्धी सी, काम मे उन्मत्त सी, आनन्द के कारण प्रियतम के अङ्गों में प्रविष्ट होती हुई सी

सुख के आरम्भ मे भी चेतनारहित हो जाती है, वह प्रगल्भा नायिका है। इसमे अन्तिम लक्षण अर्थात् सुरत के आरम्भ मे ही चेतनारहितत्व उस का (अर्थात् प्रगल्भा का) मध्या नायिका से व्यावर्त्तन कराता है। मध्या नायिका तो सुरत के अन्त मे मोह (मूर्च्छा) को प्राप्त होती है। जबकि प्रगल्भा नायिका सुरत के आरम्भ मे ही मूर्च्छात्व (चेतना रहितत्व) को प्राप्त कर लेती है। यही उसकी प्रगल्भता है। इस प्रकार दशरुपक मे प्रगल्भा के तीन वैशिष्ट्य स्वीकार किये गये। ये हैं क्रमशः गाढयौवना, भावप्रगल्भा और रतप्रगल्भा। रुद्रभट्ट के 'निराकुल रतावेषा' मे रतप्रगल्भा की ही ध्वनि आती है।

दशरुपककार ने 'रतप्रगल्भा' के उदाहरण रुप में अमरु (101) का एक पद्य उदाहृत किया है। रुद्रभट्ट ने भी रताकुलप्रौढा के उदाहरण में बिलकुल वैसी ही रचना की है। दोनों का साम्य दृष्टव्य है–

कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं बन्धनाद्

वासः प्रश्लधमेखलागुणधृतं किञ्चिन्नितम्बे स्थितम्।

ऐतावत् सखि वेद्मि केवलमहं तस्याङ्गसङ्गे पुनः

कोऽसौ कास्मि रतं नु किं कथमिति स्वल्पाऽपिन मे स्मृतिः।।

अमरु 101, दशरुपक उदा० सं० 122

रुद्रभट्ट की रत प्रगल्भा

धन्यास्ताःसखि योषितः प्रियतमे सर्वाङ्गलग्नेऽपि याः,

प्रागल्भ्यं प्रथयन्ति मोहनविधामवलम्ब्य धैर्यं महत्।

अस्माकं तु तदीय पाणिकमलेऽप्युन्मोचयत्यंशुकं,

कोऽयं का वयमत्र किं च सुरतं नैव स्मृतिर्जायिते।।

आगे धनिक अपनी अवलोक टीका में स्पष्ट करते है कि इसी प्रकार प्रगल्भा के और भी व्यवहार जानने चाहिये जिनमे लज्जा की यन्त्रणा छोड दी जाती है। और विदग्धता का प्राचुर्य होता है।[120] वस्तुतः सत्य यह है कि यदि नायिका लज्जा का नियन्त्रण स्वीकार करें या उसमे विदग्धता न हो तो वह विविध प्रकार की रतिविधियो का प्रयोग नही कर सकती।[121]

नाट्यदर्पण मे प्रगल्भा के बारे में कहा गया है कि दीप्ति आयु, मान तथा कामवाली और प्रियतम के स्पर्शमात्र से बेसुध हो जाने वाली प्रगल्भा नायिका होती है।[122] प्रतापरुद्रयशोभूषण में प्रगल्भा को प्रौढा कहा गया है।[123] इसी प्रकार के विचार वाग्भटालङ्कार और काव्यानुशासन में भी व्यक्त किये गये है। साहित्यदर्पण मे भी प्रायः दशरुपके के समान ही प्रगल्भता का स्वरुप दिखलाया गया है।

इसी प्रकार न सिर्फ रुद्रभट्ट ने अपितु लगभग सभी विद्वानों ने प्रगल्भा की कोपचेष्टाओं के आधार पर उसे तीन भागों में विभक्त किया है। ये प्रभेद रुद्र व रुद्रट के अनुसार धीरा, मध्या व अधीरा है किन्तु दशरुपककार के अनुसार यह धीरा, अधीरा व धीराधीरा प्रकार की होती है तथा इसकी कोपचेष्टाओं के अनुसार धीरा प्रगल्भा अवहित्थ (आकार संवरण) तथा आदर प्रदर्शन सहित व्यवहार करती है, वह कोप के कारण रति में उदासीन रहती है, अधीरा प्रगल्भा क्रोध से नायक को फटकार कर पीटती है। धीरा धीरा (मध्या) प्रगल्भा तो धीरा धीरा मध्या के समान उस नायक से बात करती है। इनमें भी सावहित्थादरा नामक प्रगल्भा नायिका की रुद्र व अमरु के ग्रन्थों में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है। (जो कुपित) आकार को छिपाकर अधिक औपचारिकता (आदर) के साथ व्यवहार करती है तथा जो कोप के कारण रति में उदासीन रहती है। इसकी रत्युदासीनता भी विचित्र है। यह नायक को कोप में रतिकार्य में प्रवृत्त नहीं करती तो निवृत्त भी नहीं करती।[124]

सिर्फ औदासीन्य अर्थात् स्वयमप्रवृत्ति का व्यवहार करती है। यह धीरा प्रगल्भा है। कोप मे भी उसका अदर्शन तथा कोप के विपरीत आदरभाव का प्रदर्शन उसके धीरा होने का हेतु है। तथा रतिकार्य से नायक को कोप में भी वारित न करना उसका धैर्य के साथ–साथ प्रगल्भात्व भी प्रदर्शित करता है। रुद्रभट्ट भी धीरा प्रगल्भा का पूर्णतया यही चित्र खींचते है। उनके अनुसार धीरा प्रगल्भा वह है जो अपराध करने वाले नायक के प्रति भी (कृतदोषेऽपि सा) कोप सहित (अधिक औपचारिकता से) नायक का आदर करती है। तथा (कोप के) आकार को छिपाकर वह सुरत–कार्य में उदासीन हो जाती है।[125] इनमे वे उसके रोष का तथा रत्यौदासीन्य का दो अलग–अलग उदाहरण देते है। ये पद्य क्रमशः है –

'यद्वाच. प्रचुरोपचार चतुरा' (शृ.ति. 1/77) आदि तथा 'यत्पाणिर्न निवारितो', (शृ.ति. 1/78) इत्यादि। अमरुशतक में भी 'कृतो दूरादेव' आदि (अमरु–14) तथा 'एकत्रासनसंस्थितिः' (अमरु–18) इत्यादि उदाहरण धीरा प्रगल्भा के रोष में आदर–प्रदर्शन के तथा 'आयस्ता कलह' इत्यादि (अमरु–106) उसकी रत्युदासीनता के निदर्शक हैं। काव्यालङ्कारकर्ता रुद्रट के अनुसार धीरा–प्रगल्भा अपराधी नायक के प्रति कुपित होकर अपने (कोप के) आकार को छिपाकर अधिक आदर करती हे (संवृत्याकारमधिमाद्रियते)। कोप को छिपाकर वह एकान्त में (रहसि, अर्थात् तत्सम्बन्धी इत्यादि कार्यो में) उदासीन हो जाती है।[126] साहित्यदर्पणकार का भी यही मत है। वे भी दशरुपककार की ही भांति 'एकत्रासनसंस्थिति.' इत्यादि (अमरु–18) अमरुशतक का पद्य उदाहरण रुप में देते हैं, किन्तु रत्युदासीनता का वे चित्रण नहीं करते जो शृङ्गारिक मनोहारिता का तत्व है। मध्या प्रगल्भा, जिसे दशरुपककार एवं विश्वनाथ ने धीरा धीरा कहकर पुकारा है, मध्या मध्या की भांति ही व्यङ्ग्य भरे अप्रिय लगने वाले प्रिय वचनों से (अर्थात्

ऊपर से प्रिय दिखाई पडने वाले पर वास्तव में अप्रिय) नायक पर चोट करती है, उसे सन्तत्प्त करती है। मध्या मध्या और मध्या प्रगल्भा मे एक सूक्ष्म भेद यह है कि यहां (अर्थात् मध्या–प्रगल्भा में) प्रागल्भ्य अधिक है अत अप्रिय वचन भी बडे ही विनम्र स्वर मे कहे जाते है। मानो प्रिय वचन कहे जा रहे हो। अधीराप्रगल्भा तो क्रोध से तर्जना देकर (फटकार कर) नायक को पीटती ही है। लगभग सभी विद्वानो का यही मत है। रुद्रभट्ट इस भावना का निरुपण अत्यन्त सुन्दर शब्दो में 'सा बाढ भवितेक्षितेति' (शृ.ति. 1/81) इत्यादि छन्द में करते हैं – देखें – 'तुमने उसे बहुत देखा' ऐसा कहकर भुजाओं की माला से नायक को खूब कसके बांधकर, 'हे शठ, उसे तुम फिर देखोगे?' इस प्रकार कठोर वाणी से फटकार कर और डराकर सखियों के सामने ही, अपने दोषों को छिपाने वाले प्रियतम को बजते हुये नूपुर वाले चरणों से प्रहार करके मानिनी ने 'अशोक' कर दिया।[127] यहां 'अशोक' करने के दो अर्थ है – प्रथमतः ये कि मानिनी ने चरण प्रहार करके उसे शोकरहित कर दिया क्योंकि शृङ्गारिक उपादानों से यह कोप की समाप्ति का सूचक है। दूसरे यह कि यह कवि प्रसिद्धि है कि कुरबक स्त्रियों के आलिङ्गन से, केसर उनके मुख की मदिरा से, और अशोक उनके पादप्रहार से पुष्पित और विकसित होता है।[128] इसी भाव का अमरुशतक का 'कोपात्कोमललोल' (अमरु–9) इत्यादि श्लोक मिलता है जिसे दशरुपककार ने अधीरा प्रगल्भा के उदाहरण रुप मे उद्धृत किया है। इस भाव को व्यक्त करने वाले साहित्यशास्त्र में अनेक उद्धरण मिलते हैं। विश्वनाथ ने शठ नायक के प्रसंग में 'शोणं वीक्ष्य'[129] इत्यादि स्वयं का पद्य लिखा है जो लगभग इसी भावना को व्यक्त करता है। यहां तक कि रुद्रभट्ट ने भी शठ नायक के उदाहरण के अवसर पर जो श्लोक लिखा है वह पूर्णतया

अमरुशतक के इस श्लोक की अनुकृति जान पडता हैं। दोनो का अद्‌भुत साम्य दृष्टव्य है।

कोपात्कोमललोल बाहुलतिकापाशेन बद्धा दृढ़,
नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुर.।
भूयोऽप्येवमिति स्खलन्मृदुगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं,
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्या हसन्।।

अमरु–9

कोपात्किञ्चिदुपानतोऽपि रभसादाकृष्य केशेष्वलं
नीत्वा मोहनमंदिरं दयितया हारेण बद्धवा दृढ़म्।
भूयो यास्यसि तद् गृहानिति मुहुः कण्ठार्धरुद्धाक्षरं
जल्पन्त्या श्रवणोत्पलेन सुकृति कश्चिद्रहस्ताड्यते।।

अमरु और शृङ्गारतिलक दोनो के पदलालित्य, भाव–माधुर्य, सौकुमार्य और मधुरकल्पनाशीलता इनमें इतना साम्य है मानों दोनो एक ही लेखक की कृतियां हों। पिशेल ने ठीक ही लिखा है कि शृङ्गारतिलक पडने के बाद ही अमरुशतक के छन्दों का ठीक अर्थ (सन्दर्भ) पता चलता है।[130] लेकिन शृङ्गारतिलक की मधुरता उसे सचमुच अपने नाम को सार्थक करने में मदद करती है।

इस प्रकार से स्वीया के तीनों भेद–प्रभेदों का वर्णन करके, उनके रति–स्वभाव व कोपचेष्टाओं का विवेचन करके आचार्य रुद्र अन्त में स्वकीया नायिका की प्रशंसा करते है। वे कहते है – "जो सुख–दुःख (यहां तक कि) मरण में (भी) नायक का साथ नहीं छोडती, वह स्वीया नायिका है। ऐसी नायिका से पुण्य वालों को ही प्रेम होता है।"

"संपत्तौ च विपत्तौ च मरणे या न मुञ्चति।

स स्वीया तां प्रति प्रेम जायते पुण्यकारिणः।।"

शृति 1/86

अब स्वकीया के तीन भेद मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा कर चुकने के उपरान्त पुन. उनके प्रभेद कथन करते हैं। इन में मुग्धा के बारे मे कवि का कहना है कि मुग्धा और पुनर्भू[131] सदा समान आकार (स्वभाव) की होती है, इस लिये दोनो का अन्तर बहुत सूक्ष्म होने के कारण कवियों ने उनका वर्णन नहीं किया है। अर्थात् मुग्धा के अन्य कोई भेद नही होते। सिर्फ एक बात थोडी खटकती है कि आचार्य ने मुग्धा व पुनर्भू को एक श्रेणी में क्यो रखा? जबकि पुनर्भू के तीन प्रकार कामसूत्र में मुनि वात्स्यायन ने भी बताये हैं (दृष्टव्य – पाद टिप्पणी)

इस प्रकार मुग्धा को अनन्य भेदा बताकर आचार्य शेष दोनों अर्थात् मुग्धा से इतर मध्या और प्रगल्भा के ज्येष्ठा व कनिष्ठा दो–दो भेद किये है। इन द्विविध भेदो के साथ मध्या व प्रगल्भा क्रमशः छः–छः प्रकार की हो जाती है। (धीरा, मध्या व अधीरा के भेद से वे तीन प्रकार की थीं।) इनमें कनिष्ठा को छोटी सपत्नी व ज्येष्ठा को बडी सपत्नी (सौत) कामसूत्र मे बताया गया हैं।[132] इन्हें हम क्रमशः नायक द्वारा प्रथमतः चाही गयी व द्वितीयतः चाही गयी नायिकायें कह सकते हैं। रुद्रभट्ट ने इन्हें नायक के प्रेम के अनुसार प्रभेद[133] वाली बताया हैं। वे कहते हैं कि नायक कलाओं में कुशल होता है अतः उपरोध (बाधा) से तथा अनुराग से वह उन दोनों के प्रति चेष्टा करता है।[134] वे इसका उदा0[135] भी देते है।

स्वकीया के अनन्तर आचार्य कन्या व ऊढा (विवाहिता) नामक दो प्रकार की परकीया नायिकाओं के बारे में बताते हैं। उनका कहना है कि ये दोनों ही प्रिय होती हैं और देखने सुनने मात्र से भी कामातुर हो जाती है।[136] कन्या की

कामचेष्टा का[137] वे इस प्रकार वर्णन करते हैं कि वह कान्त को न देखती है तथा उसके (नायक के) दूर से दिखाई पडने पर भी सखी का अच्छी तरह से आलिङ्गन करती है।

इसी प्रकार ऊढा (परकीया विवाहिता) की कामचेष्टा का आचार्य–प्रवर वर्णन करते हैं।[138] उनके अनुसार वह बिना किसी कारण के हंसती हुई सी वह सखी से कुछ बोलती है और किसी बहाने से अपने किसी सुन्दर अंग को खोल देती है। वह प्रिय को देखकर बिना किसी कारण के हंसती है और निष्कारण ही सखी से जो बात करती है, उससे वह अपने को उसके (नायक के) अधीन हुई बताती हैं।[139] वह प्रिय को देखकर फूल की माला, आभूषणों और करधनी को कुछ संभालती है और फिर अपने सुहृत् कामदेव के आवास के तुल्य अपने प्रत्येक अंग को दे देती है।[140] आचार्य एक स्थान पर[141] उसे अन्योढा कहकर पुकारते हैं और कहते है कि वह (अन्योढा) भी उत्कट काम भाव होने पर वह सब कुछ करती है तथा अन्त में बेहाल होकर प्रिय के पास स्वयं चली जाती है। इससे यह विदित होता है कि उपरोक्त कामचेष्टायें सिर्फ ऊढा को ही नहीं अपितु कन्या की भी हैं। वे अन्योढा के प्रिय के पास जाने का एक दृष्टान्त भी देते हैं[142] वे कहते हैं कि प्रिय का दर्शन होने पर उस (अन्योढा) तन्वंगी की आंखे आनन्द से बन्द हो जाती हैं, नितम्ब प्रस्रवित (गीला) होने लगता है और शरीर कांपने लगता है।[143]

यह दृष्टव्य है कि कन्या मुग्ध होने के कारण बेहाल होने पर भी प्रिय से स्वयं नही मिलती। अपितु उसकी सखी उसके प्रिय से उसकी अवस्था का वर्णन करती है।[144] कन्या अनुरक्त होने पर भी देखते और बात करते हुये उस नायक को एकानत में भी लज्जा के कारण न तो खुल कर देख पाती है न उससे बात

कर पाती है।[145] वह नायक को बार–बार देखने की इच्छा करती है पर ठीक से देख नही पाती। नायक के आदरपूर्वक बोलने पर भी बोलना चाहती है परन्तु बोल नही पाती[146] उस प्रेम की अभिव्यक्ति के लिये उस के मन की बात जानने वाली सखी नायक से बात करती है अथवा नायक नायिका की सखी से बात करता है।[147]

वस्तुतः कन्या सब प्रकार से मुग्धा नायिका ही होती है, ऐसा इस पंक्ति के लिखने वाले का अभिमत है यहां यह संदेह व्यर्थ है कि मुग्धा इत्यादि तो स्वकीया के प्रभेद हैं जबकि कन्या तो परकीया होती है, क्योंकि मुग्धात्व व प्रगल्भात्व भी, जैसा कि इनके नामों से स्वयं संसूचित होता है, एवमेव स्वकीयात्व एव परकीयात्व निजपरत्व पर आधारित है। आचार्य रुद्रभट्ट आगे कहते हैं कि स्वीया नायिका अन्य (नायक) की शरण में नहीं जाती। जबकि पराङ्गना रतिसुख के कारण हर लेने योग्य होतीं है। (रुद्रभट्ट स्पष्टतः परकीया नायिका के पक्ष में हैं) इसका तो केवल प्रेम ही उद्देश्य होता है, जिससे यह प्रेमियो को अभिमत होती है।[148] कन्या और ऊढा इत्यादि परकीया का निर्वचन करने के सन्दर्भ में एक बात स्पष्ट है कि रुद्रभट्ट को भी कदाचित ये भान था कि परस्त्रीगमनोपाय निन्दित है। वे कहते हैं कि–

परस्त्रीगमनोपायः कविभिर्नोपदर्शितः।

सुन्दरं किं तु काव्याङ्गमिति मत्वा निगद्यते।।

शृ.ति. 2/40

रुद्रट ने भी कवियों द्वारा परस्त्रीगमन के उपायों का वर्णन निषिद्ध घोषित किया है।

न हि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः।
कर्तव्यतयान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः ।।

काव्या0 14/12

उन्होंने उसे काव्य के अङ्ग के रुप मे केवल विद्वानों की आराधना हेतु दोषमुक्त किया है।[149] यहा तक कि इस हेतु उन्होंने शास्त्र–वचन का भी अवलम्बन किया है[150] अर्थात् अत्यन्त ही सङ्कोच से इसकी स्वीकृति वे प्रदान करते है यद्यपि रुद्रभट्ट इस औपचारिक नियम का नामसङ्कीर्तन मात्र करके उन्हीं परस्त्रीगमन के उपायों का उपदेश करने लगते हैं (शृ.ति. 2/41) सिर्फ इतना ही नहीं, वें इसे सज्जनों में भी स्वाभाविक बताते हैं। (शृ.ति. 2/42) धनञ्जय का भी अभिमत है कि परोढ़ा को कभी भी प्रधान रस की नायिका नहीं बनाना चाहिये, हां कन्या के अनुराग को कवि विवक्षातः प्रधान या अप्रधान रस का आधार बना सकता है।[151]

इस प्रकार एक (भेद वाली) मुग्धा व छः–छः प्रकार की मध्या व प्रगल्भा (1+6+6 = 13) कुल 13 नायिकायें स्वीया हुई। इनमें परकीया के दो भेद (कन्या व ऊढा) मिलाकर नायिकाओ के 15 प्रकार हो जाते है। अब सबसे अन्त में सर्वाङ्गना या वेश्या, या सामान्यर्वानता, या सामान्या नायिका आती है जिसे मिलाकर कुल 16 प्रकार की नायिकायें हो जायेगीं। इसके (वेश्या के) बारे में रुद्रभट्ट का कथन है कि सामान्य (सर्वसाधारण) स्त्री को वेश्या कहते हैं। उसे गुणहीन पुरुष से न द्वेष होता है और न गुणवान पुरुष से प्रेम।[152] लेकिन इतने भर से रुद्रभट्ट का लक्षण पूरा नहीं होता। यहां तक वे सिर्फ रुद्रट की शब्दावली दुहरा रहे हैं।[153] वे आगे अपना व्यक्तिगत अभिमत देते हैं कि ऐसा (उपर्युक्त मत)

कुछ आचार्यो का हैं वें, उसका खण्डन करेंगे।[154] वे आगे कहते है कि यदि वे (वेश्यायें) रागरहित हो तो उनका सब हावभाव आदि व्यापार शृङ्गाराभास होने लगेगा और प्रश्न उपस्थित होगा कि क्या उनके कामभाव को बगुलों ने चर लिया है।[155] इस से यह सिद्ध होता है कि उनके अन्दर भी कहीं–कहीं (किसी–किसी पुरुष मे) राग होता है लेकिन वे हमेंशा धन के लिये बनावटी हावभाव से लोगो को मोहित करती हैं। शृङ्गारतिलक के सम्पादक आर० पिशेल का भी मानना है कि रुद्र भट्ट (जिन्हें वे रुद्रट से अभिन्न मानने के पक्ष में हैं) वेश्याओं के बडे प्रशसक है[156] पी०वी० काणे भी इसी मत के हैं।[157]

रुद्रभट्ट तीन श्लोको में वेश्या का गुणगान करते है, वे कहते है कि, "कुलाङ्गनाओं" में नायक की ईर्ष्या नहीं होती[158] और पराङ्गनाओ में निःशंक कामक्रीडा नहीं होती। लेकिन वेश्याओं में ये दोनो बातें खूब पायी जाती है। अरे! ये तो कामदेव का सर्वस्व हैं। आगे उनका कहना है कि, 'प्राचीन काल में कुद्ध शङ्कर के नेत्र की आग की लपट से कामदेव भस्म हो गया लगता है वह फिर कामदेव के अवलोकन से जी उठा।' उनके अनुसार, "यदि युक्तिपूर्वक उनका (वेश्याओं का) सेवन किया जाय तो वे आनन्द देती है। अन्यथा मार डालती है। वे स्वभाव से ही दुर्विजेय होती है इसलिये वेश्या को विष के समान बताया गया है। वात्स्यायन का भी मत है कि "वेश्याओं को पुरुष–संयोग से रति भी होती है तथा धन की भी प्राप्ति होती है। यदि किसी पुरुष से प्रेम वे रति (सम्भोग) के लिये करती हैं तो वह स्वभाविक प्रेम कहलाता है। और धन के लिये बनावटी प्रेम दिखाती है। परन्तु उस प्रेम को भी स्वाभाविक सा प्रदर्शित करती है।[159]

ये (वेश्यायें) ब्रह्मचारी, गुप्तकामुक, अपने को पुरुष मानने वाले नपुंसक, आसानी से प्राप्त धन वाले, मूर्ख, पिता के धन पर घमण्ड करने वाले इत्यादि गवारों को जानकर पहले उनके धन को ले लेती हैं, फिर अपरिचित के समान उन्हे छोड देती हैं। और सन्तप्त करती है। किन्तु कला और क्रीडा में कुशल उन वेश्याओ का सुरत मनोरम और अन्य स्त्रियो को भुला देने वाला होता है।[160]

इस प्रकार 13 प्रकार की स्वकीया, 2 प्रकार की परकीया तथा एक प्रकार की सर्वाङ्गना (वेश्या) को मिलाकर नायिकाओं के कुल 16 प्रकार हुये[161] – ये निम्न सारणी मे दृष्टव्य हैं –

रुद्रभट्ट की नायिकायें

अब इन सोलह भेदों में पुनः अवस्था भेद से इन सभी का अष्टधा वर्गीकरण होता है (16 × 8 = 128) और पुनः ये सभी 128 प्रकार की नायिकायें उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन प्रकार की होती हुई। 128 × 3 = 384 प्रकार की हुई।[162]

नायिकाओं का अष्टधा वर्गीकरण

रुद्रभट्ट के अनुसार पूर्व वर्णित नायिकायें ही अवस्था भेद से आठ प्रकार की होती है अर्थात् ये आठ प्रकार की अवस्थायें हैं जिनमें नायिकायें वैसी ही कही जाती है। ये आठ हैं क्रमशः –

1. स्वाधीनपतिका, 2. उत्का, 3. वासकसज्जा, 4. अभिसन्धित, 5. विप्रलब्धा, 6. खण्डिता, 7. अभिसारिका और 8. प्रोषितपतिका।[163]

रुद्रट ने नायिकाओं के 16 विभाजन करने के उपरान्त सभी के अभिसारिका और खण्डिता ये द्विधा वर्गीकरण किये थे जिससे ये 16 × 2 = 32

प्रकार की हो गयी थी इनमें भी 13 × 2 = 26 प्रकार की आत्मीया का पुनश्च स्वाधीनपतिका और प्रोषितपतिका ये द्विधा विभाजन करके 26 × 2 = 52 प्रकार की स्वकीया मानी थी और उनमें 4 प्रकार की अन्यदीया (2 × 2) तथा 2 प्रकार की वेश्या (अभिसारिका और खण्डिता) मानकर कुल 52+4+2 = 58 प्रकार की नायिकायें मानी हैं। (हम पूर्व मे इसकी चर्चा कर चुके हैं।)

अब इन आठों का क्रमश· निर्वचन करते हैं

1. स्वाधीनपतिका

जिसके रतिगुण से आकृष्ट होकर पति कभी साथ नही छोडता और जो विचित्र हाव–भाव से युक्त तथा अपने पति में आसक्त रहती है उसे स्वाधीनपतिका कहते हैं।[164]

2. उत्का

जिसके संकेत स्थल पर प्रियतम नहीं आता, जो उसके न आने के कारण को व्याकुल होकर सोचती है, उसे उत्का कहते हैं। रुद्रट के काव्यालङ्कार में दिये प्रक्षिप्त अंश के अनुसार जिसका प्रिय किसी महत्वपूर्ण कारण से आना चाहकर भी न आ सके वह उत्का है।[165]

3 वासकसज्जा

वासकसज्जा वह है जो अपने अङ्गो एवं रतिकक्ष को सजाकर पति के आगमन का निश्चय करके द्वार की ओर आंख लगाये रहती है।[166] साहित्यदर्पणकार के अनुसार (वासके – वासवेश्मनि सज्जा यस्याः तथोक्ता) शय्या प्रदीपादिकों से कामक्रीडा के योग्य परिष्कृत निवास स्थान पर जिसका प्रसाधन (शृङ्गार) (सखिजनादि) करती हैं, (अर्थात् वासगृह को

सजाकर सखिया जिसका श्रृङ्गार आदि करती हैं) और प्रिय समागम जिसका निश्चित है वह नायिका वासकसज्जा कहलाती है।

कुरुते मण्डनं यस्याः सज्जिते वासवेश्मनि।

सातु वासकसज्जा स्याद्विदितप्रियसङ्गमा।।

सा0द0 3/85

प्रिय के साथ रात्रि आदि में रहना वासक कहलाता है। वासक के लिये सज्जिता वासकसज्जिता है।

4 अभिसन्धिता

जो पैरो पर पडे हुये प्रिय को भी पहले क्रोध से झटक देती है और फिर उसके बिना बेहाल हो जाती हैं, उसे अभिसन्धिता कहते हैं।[167] दशरुपककार के मत में यह कलहान्तरिता वह है जो अपराधयुक्त नायक को तिरस्कृत करके पश्चाताप की पीडा को अनुभव करती है। (कलहान्तरिताऽमर्षाद्विधूतेऽनुशर्यातियुक्। द0श0 II/41) साहित्यदर्पणकार के मतानुसार जो खुशामद करते हुये भी प्रियतम को रोष से तिरस्कृत कर देती है तथा फिर पश्चाताप करती है, वह कलहान्तरिता नायिका है।[168] वस्तुतः तो कलहान्तरिता ईर्ष्या तथा कलह के कारण प्रिय से सङ्गम की इच्छा ही नहीं रखती किन्तु खण्डिता समागम की अभिलाषा रखती है। कलहान्तरिता अपने किये पर पश्चाताप करती है किन्तु खण्डिता प्रिय के प्रति ईर्ष्या रखती है।

विप्रलब्धा

जिस नायिका का प्रिय स्वयं दूती भेजकर और सकेतस्थल बताकर भी नही आता, उस (नायक) के बिना बेहाल वह (नायिका) विप्रलब्धा कहलाती है।[169]

यह भेद स्वयं रुद्रभट्ट के द्वारा ही पूर्व वर्णित भेद उत्का से मेल खाता है। किन्तु रुद्रट काव्यालङ्कार के अनुसार उत्का वह है जिसका पति किसी महत्वपूर्ण कार्य के कारण आ नही सका[170] (यद्यपि वह आने को पूर्णतः प्रयत्नशील था) किन्तु विप्रलब्धा का नायक जानबूझकर नही आया या लापरवाही से आने मे नियत समय पर न पहुँच सका या (निश्चित ही वह धृष्ट नायक है) यह निश्चय नही हो पाता। दशरुपककार की विप्रलब्धा भी ऐसी ही है।

विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽसिविमानिता – अर्थात् उक्त समय पर न आने के कारण अत्यन्त अपमान महसूस करने वाली विप्रलब्धा है।[171] खण्डिता से विप्रलब्धा का अन्तर यह है कि विप्रलब्धा के पति की दूसरी स्त्री में आसक्ति होना निश्चित नहीं होता, वह तो केवल उक्त समय पर नहीं आता। संकेत में वञ्चित होने के कारण ही वह नायिका अपने आपको तिरस्कृत अनुभव करती है। (विप्रलब्धा = वञ्चिता)

खण्डिता

उचित वस्त्र आदि से सज्जित होने पर भी जिसका प्रिय कहीं से नहीं आता, उस (नायक) के न आने से सन्तप्त वह (नायिका) खण्डिता मानी जाती है।[172] दशरुपककार ने खण्डिता को और स्पष्ट किया है उनके अनुसार नायक को दूसरी नायिका के सहवास से विकृत जानकर जो ईर्ष्या से कलुषित हो जाती है वह खण्डिता है।[173] विश्वनाथ का भी यही मत है।[174]

अभिसारिका – जो बहुत अधिक मस्ती या कामभाव के कारण निर्लज्ज होकर प्रिय के पास जाती है, उसे अभिसारिका कहते है।[175] दशरुपककार के अनुसार

जो काम से पीडित होकर नायक के पास स्वयं जाती है अथवा नायक को अपने पास बुलाती है, वह अभिसारिका है।[176]

अभिसारिका पद की व्युत्पत्ति दो प्रकार से हो सकती है 1. अभिसारीयते और 2 अभिसरतिवा। अतएव यह नायिका भी दो प्रकार की हुई प्रथम अभिसारयित्री – जो नायक को अपने पास अभिसरण करावे और अभिसारिणी – जो नायक के पास स्वयं अभिसरण करे।[177]

तीन प्रकार की अभिसारिकायें

पात्र भेद से रुद्रभट्ट तीन प्रकार की अभिसारिकायें होती है, ऐसा बताते है।[178] प्रथम कुलजा अभिसारिका (स्वकीया) अपने खूब ढक करके डरी हुई, लज्जा के साथ नायक के कक्ष मे जाती है। किन्तु द्वितीय परकीया अभिसारिका चारों ओर यह देखकर कि उसे कोई देख नहीं रहा है, नायक के पास जाती है।

तृतीय वेश्याभिसारिका मस्ती की अधिकता के कारण चढी हुई (फैली) आंखो वाली, निःशङ्क होकर गहनों को बजाती हुई खूब मजे मे नायक के पास जाती है।

प्रोषित पतिका

जिसका पति (लौटने की) अवधि का निर्देश करके किसी कारण विदेश चला जाता है। अत्यन्त दुःखिनि वह नायिका प्रोषितपतिका कहलाती है।[179] दशरुपककार इसे प्रोषितप्रिया कहकर बुलाते हैं। उनके मत में जिस नायिका का पति किसी कार्य से दूसरे देश में स्थित होता है वह प्रोषितप्रिया कहलाती है।[180] इसी प्रकार आचार्य विश्वनाथ का भी मत है।[181]

इस प्रकार से नायिका के भेद करते हुये रुद्रभट्ट समस्त भेद–प्रभेदो के उदाहरण भी देते हैं। रुद्रभट्ट कि मतानुसार नि:श्वास, संताप, सखी के साथ संलाप, चिन्ता, अश्रुपात और खेद– ये सब विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका, उत्का, अभिसन्धिता और खण्डिता में होते है।[182]

स्वाधीनभर्तृका विविधप्रकार की वेशभूषा से प्रसन्न रहती है। वासकसज्जा भी इसी प्रकार रहती है, लेकिन उसका प्रिय आने वाला होता है।[183]

आचार्य आगे कहते है कि इस प्राकर से 16 × 8 = 128 प्रकार की नायिकायें उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन प्रकार की होती है।[184] इस प्रकार कुल नायिकायें 128 × 3 = 384 प्रकार की हुई।

उत्तमा :– जो नायक के दोष के अनुरुप क्रोध करती है फिर उसके मनाने पर प्रसन्न हो जाती है, पति से बहुत प्यार करती है और गुणों द्वारा आकृष्ट की जा सकती है, उसे उत्तमा कहते है।[185]

मध्यमा :– नायक के थोडे दोष पर भी जो क्रोध करती है, बहुत कष्ट से सन्तुष्ट होती है, और किसी कारणवश प्यार करती हैं, उसे मध्यमा कहते है।[186]

अधमा :– जो बिना किसी दोष के ही पति पर क्रोध करती है और बिना मनाये ही प्रेम कने लगती है, बिना किसी कारण के प्रवृत्त होती है, और जिसका चित्त चञ्चल होता है उसे अधमा कहते है।[187] आगे आचार्य का यह भी कथन है कि जाति, काल, उम्र, अवस्था, भाव, काम और नायक के भेद से अन्य असंख्य प्रकार की नायिकायें हो सकती है। विस्तार के भय से उनका वर्णन नहीं किया गया है।[188] आचार्य विश्वनाथ भी कहते हैं कि और भी (384 भेदो के अतिरिक्त) असंख्य नायिकायें हैं किन्तु विस्तार की आशंका से उनको नहीं कहा है।[189]

रुद्रभट्ट की ही परम्परा का अनुसरण करते हुये आचार्य विश्वनाथ ने भी नायिकाओं के 384 भेद ही स्वीकार किये है।[190] यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि लज्जा का प्राधान्य होने के कारण 'मुग्धा', लज्जा और मन्मथ का अतिशय प्राधान्य होने के कारण 'मध्या', प्रौढभाव के प्राधान्य होने के कारण 'प्रगल्भा', धैर्य की प्रचुरता के कारण 'धीरा' अधैर्य की प्रचुरता के कारण 'अधीरा' धैर्य और अधैर्य की प्रचुरता के कारण मध्या (धीरा धीरा), ज्येष्ठ नायिका पर प्रेमाधिक्य होने के कारण ज्येष्ठा, कनिष्ठा नायिका पर प्रेम की न्यूनता होने के कारण 'कनिष्ठा' रहस्य की प्रधानता होने के कारण 'परोढा', मुग्धा की तरह लज्जा का प्राधान्य होने के कारण 'कन्यका' और धन के अपहरण की प्रधानता के कारण गणिका ये सभी नायिकायें आठ प्रकार की होती है।[191] दशरुपककार ने नायिकाओ की आठ अवस्थायें मानी हैं – "आसामष्टाववस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिका" (दश० II/23)। उनके अनुसार ये नायिका की अवस्थाये हैं, उनके भेद नहीं और ये आठ ही होते हैं (अष्टौ) कम या अधिक नहीं, क्योंकि इनमें से किसी का किसी में परस्पर अन्तर्भाव शक्य नहीं है। और इनसे अधिक भेद सम्भव नहीं है। ये अवस्थायें हैं, यद्यपि नायिका होना (अथवा स्वकीया नायिका होना) इत्यादि भी (नारी की) अवस्थायें ही है। तथापि पूर्वोक्त (स्वकीयादि) अवस्थायें धर्मी हैं और ये (स्वाधीनपतिका इत्यादि) उनके धर्म हैं। अर्थात् उन अवस्थाओं की ही ये अवस्थायें हैं। यह बतलाने के लिये ही इन अन्य अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। यह धनिक मत है।[192] इस प्रकार धनञ्जय के मत में ये आठ अवस्थायें हैं स्वाधीनपीतका वासक सज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया और अभिसारिका। नाट्यशास्त्र (22–211–212), भाव प्रकाशन (पृष्ठ

98) नाट्यदर्पण (4–231 से आगे), प्रतापरुद्रयशोभूषण (1–41–42) तथा साहित्यदर्पण (3–72–73) इत्यादि में नायिका की ये ही आठ अवस्थाये वर्णित है।

इस प्रकार से ये नायिका के (384) तीन सौ चौरासी भेद रुद्रभट्ट ने किये जो सर्वथा तार्किक एवं प्रामाणिक हैं। लगभग साहित्यशास्त्र के सभी आचार्यो ने नायिकाओं के ये ही भेद स्वीकार किये है। केवल रुद्रट नायिकाओं के 16 भेद कर चुकने के उपरान्त भिन्न प्रकार से उनके भेद–प्रभेद (पूर्व में वर्णन किया जा चुका है।) करके उनके 58 भेद स्वीकार करते है। रुद्रभट्ट नायिका–भेद मे रुद्रट से अलग अपना वैशिष्ट्य रखते हुये उसके तीन सौ चौरासी भेद करते है।

1. समासतस्तु प्रकृतिस्त्रिविधा परिकीर्तिताः।
   स्त्रीवाञ्य पुरुषाणाञ्च उत्तमा मध्यमाधमाः।। ना.शा., 34/2

2. तत्र चत्वार एवस्युः नायकाः परिकीर्तिता।
   मध्यमोत्तमप्रकृतौ नानालक्षण लक्षितः।। वही, 34/7

3 जितेन्द्रिया ज्ञानवती नानाशिल्पविचक्षणा।
   दक्षिणा भोगदक्षाऽथ दीनाना परिसान्त्विनी।।
   नानाशास्त्रार्वासम्पन्ना गम्भीर्यौदार्यशालिनी।
   धैर्यत्यागगुणोवेता ज्ञेया प्रकृतिरूत्तमा।।

4 लोकोपचारचतुरा शिल्पशास्त्रीब्शारदा।
   विज्ञानमाधुर्ययुता मध्यमा प्रकृतिः स्मृताः।।

5 ना.शा.– 34/17–18

6. ना.शा.– 34/17– विभागंशीलसंश्रयम्।

7. दशरुपक द्वितीय प्रकाश– 7 की धनिककृत व्याख्या

8. शृ.ति. – 1/27

9. शृ.ति. – 1/28

10. उज्ज्वल नीलमणि – नायक भेद प्रकाण 38/39

11. व्यसनो प्राप्त दुखं वा युज्यतेऽभ्युदयेन य ।

तथा पुरूषबाहुल्ये प्रधानो नायक स्मृतः ।। ना.शा. 34/23

यत्रानेकस्य भवतो व्यसनाभ्युदयौ पुनः ।।

प्रकृष्टौ वत्र तौ स्यातां स भवेतत्र नायकः ।।

12. नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।

रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ।।

बुद्धयुत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।

शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्र चक्षुश्च धार्मिकः ।। दश0 द्वितीय/1,2

13. त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूप्यौवनोत्साही ।

दक्षोऽनुरक्तलोक स्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ।। सा0द0 3/30

14. रत्युपचारे चतुरस्तङ्गकुलो रूपवान रूङ्यानी ।

अग्राम्योज्ज्वलवेषोऽनुल्षणचेष्टः स्थिरप्रकृतिः ।।

सुभगकेलासुकुशलस्तरूणस्त्यागी प्रियंवदो दक्षः ।

गंम्यासु च विस्रम्भी तत्र स्यान्नायकः ख्यातः ।।

रुद्रट काव्यालङ्कार 1/7–8

15. त्यागीकुलीनः कुशलो रतेषु कल्पः कलाक्तिरूणो धनाढ्यः ।

भव्य क्षमावान्सुभगोऽभिमानी स्त्रीणां मतज्ञः किल नायकः स्यात ।।

शृ.ति. 1/27

16. अनुकूलतया नार्या सदा व्यक्तपराक्रमः ।

सीतायां रामवत्सोऽयमनुकूलः स्मृतो यथा ।। शृ.ति., पिशेल, 1/29

17 अस्माक सखि वाससी न रूचिरे ग्रैवेयकं नोज्ज्वल।

18. दशरुपक द्वितीय/7

19. तत्र प्रेम्ण. स्थैर्यादनुकूलोऽनन्यरमणीकः।

रुद्रट काव्या0 12/9

20. साहित्यदर्पण 3/37

21 साहित्यदर्पण 3/36 की व्याख्या मे अनुकूल नायक का उदाहरण

शृ ति. 1/30

22. अतिरिक्ततया नार्या व्यक्तान्यललनास्पृहः।

सीतायां रामवत्सोऽयमनुकूलः प्रकीर्तितः।। उज्ज्वल0 1/22

23. अनुकूल क्षिणशठा धृष्टश्चेति द्वयोरथोच्यन्ते।

प्रत्येकं चत्वारो भेदाः युक्तिभिरगी वृत्तया।।

शाठ्यधाष्ट्र्ये पर नाट्यप्रोक्ते उपपतेरूभे।

कृष्णे तु सर्वं नायुक्तं तत्तद्भावस्य संभावात्।। उज्ज्वल 1/20–21

24. यो गौरव भयं प्रेम दाक्षिण्यं पूर्वयोषिती।

न मुञ्चत्यन्यचिन्तोऽपि ज्ञेयोऽसौ दक्षिणो यथा।। शृ ति. – 1/31

25 सैवास्य प्रणतिस्तदेव वचनं ता एव केलिक्रिया।

भीति. सैव तदेव नर्म मधुरं पूर्वानुरागोचितम्।

कान्तस्याप्रियकारिणी च भवती तं वक्ति दोषविलं।

किं स्यादित्थमहर्निशं सखि मनो दोलायते चिन्तया।।

शृ.ति. – 1/32

26. खण्डयति न पूर्वस्यां सद्भावं गौरवं भयं प्रेम।

अभिज्यतोऽन्यमना अपि नार्यां यो दक्षिणः सोऽयम्।।

रुद्रट काव्या0 12/10

27. योऽस्या ज्येष्ठायां सह व्यवहरति स दक्षिणः

दश0 द्वितीय/60 अवलोक व्याख्या

28. दशरुपक उदा0 सं0 84

29. दशरुपक उदा0 सं0 85

30 एषुत्वनेकमहिलास समरागो दक्षिवः कथितः। सा.द 3/35

31 द्वयोस्त्रिचतुः प्रभृतिषु नायिकासु तुल्यानुरागो दक्षिण नायक वही व्याख्या।

32. नायिकास्वप्यनेकास तुल्यो दक्षिण उच्यते। उज्ज्वल नील 1/31

33 प्रतापरुद्रीय 1/35

34. प्रियं वक्ति पुरोऽन्यत्र विप्रियं कुरुते भृशं।

मुक्तापराधचेष्टश्च शठोऽसौ कथितो यथा।।

शृ.ति. – 1/33

35. शाठ्यधाष्ट्र्ये परं नाट्यप्रोक्ते उपपतेरूभे।

उज्ज्वल नीलमणि, नायकभेद प्रकरण 21

36. अत्रैव परमोत्ककर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः। वही 16

37 सरलतरले आवां तावद्बहुश्रुतशालिनौ

पुनरिह युवां सत्यं शिष्टं यदत्र कृतागीस।

प्रणीयीनज ने रन्तुं युक्तं न वेति वतावयो

धुर्षमुपगते कर्णो प्रष्टुं कुरङ्गदृशो दृशौ।।

शृ.ति. – 1/34

38. with the help of Shringartilak it is now possible to assign to many stanzas of the Amrusatak] their original

purpose. Specially as a good many of Rudratas (Mis Understood) Udaharanas are but imitations of Amarakas stazas. Some as mentioned is the notes, were copies.

आर0पिशेल, शृ.ति. की भूमिका पृ0 –10

39 काव्यप्रकाश 7/53

40 वहीं 7/50

41. वही 8/74 (स्पर्श अटवर्गा)

42. उज्ज्वलनीलमणि, रूपगोस्वामीरचित, नायकभेदप्रकरण (33)

43. वक्ति प्रियमभ्यधिक यः कुरूते विप्रियं तथा निभृतम्।

आचरति निरपराधवदसरलचेष्टः स अठ इति।।

रुद्रट काव्या0 12/11

44. गूढविप्रियकृच्छठः। दश0 2/7

45. दक्षिणस्यापि नायिकान्तरापहृतचित्ततया विप्रियकारित्वाविशेषेऽपि सहृदयत्वेन शठाद्विशेषः, धनिक कृतावलोक। दश0 8/7 की टीका

46 शठोऽयमेकत्र बद्धभावोयः

दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमयत्र गूढमाचरति।।

सा0द0 3/36

47. निःशङ्कः कृतदोषोऽपि निर्लज्जस्ताडितोऽवि सन्।

मिथ्यावाग्दृष्टदोषोऽपि धृष्टोऽयं कथितो यथा।

48. जल्पन्त्याः परुषं रूषा मम बलाच्चुम्बत्यसावाननं

गृहणात्याशु करं करेण बहुशः संजाऽयमानोऽपि सन्।

आलीनां पुरतो दधाति शिरसा पादप्रहारान्नतो

नो जाने सखि साम्प्रतं प्रणयिनी कुप्यामि तस्मैकथम।। शृ.ति. – 1/37

49. धिक्त्वां धूर्त गतत्रपप्रणयिनी सैव त्वयाराध्यतां

यस्या· पादतलाहृतिं तव हृदि व्याख्यात्यसौ यावकः।

इत्युक्तोऽपि न नाम मुञ्चति यदा पादावय दुर्जनो

मिथ्यावादविचक्षण· किमपर· कुर्यां वयस्ये तदा।।

शृति. – 1/38

50 कृतविप्रियोऽप्यशङ्को यः स्यान्निर्भर्त्सितोऽपि न विलक्षः।

प्रतिपादितेऽपि दोषे वक्ति च मिथ्येत्यसौ धृष्टः।।

रुद्रट काव्या0 12/12

51. लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले,

वषत्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बलरागोऽपरः।

दृष्ट्वा कोपविधाय मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो,

लीलातामरसोदरे मृगदृश· श्वासाः समाप्ति गता।।

अमरू 60/दशरूपक 2/87

52 कृतागा अपि निश्शंकर्स्तीजतोऽपि न लीज्जतः।

दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्कथितो धृष्ट नायकः।।

सा0द0 3/36

53. अभिव्यक्तान्यतरूणीभोगलक्ष्मापि निर्भयः।

मिथ्यावचनदक्षश्च धृष्टोऽयं खलु कथ्यते।।

उज्ज0 1/36

54. दशरूपके अवलोकटीकायां उद्धृतं। पृ0 126– दशरूपके, श्रीनिवास शास्त्रिणा सम्पादितम्।

55. इत्यत्र न रागं याति न मदनस्य वशमेति इत्यनेनासाधारण एकस्यां स्नेहो निषिद्धो दाक्षिण्यस्येति। वही पृ0–127

56 भेदैश्चतुर्धा ललित शान्तोदात्तोद्धतैरियम्। दश0 2/3

57 ना.शा. 34/18

58 सा0द0 3/31

59. निश्चिन्तों धीरललितः कलासक्त सुखी मृदु। दश0 3/3

60. ना0शा0 34/19

61 दश0 धनिक कृतावलोक व्याख्या पृ0 114 वही

62. सामान्य गुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः। दश0 पृ0 314/114

63. ना0शा0 34/20

64. सा0दा0 3/34

65. सा0दा0 3/34

66. महासत्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनं।

स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः।। दश0 2/4–5

67. ना0शा0– 34/20 (सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तो प्रकीर्तितो।)

68. सा0द0 3/32

69. वही – व्याख्या

70. दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपराणः।

धीरोद्धतस्त्वहङ्कारो चलश्चण्डोविकत्थनः।। दश0 3/6

71. वही व्याख्या पृ0 120–21

72. मायापारः प्रचण्डऽश्चपलोऽहङ्कारदर्पभूयिष्ठः।

आत्मश्लाससनिरतो धीरैर्धररीद्धतः कथितः।।

सा0द0 3/31

73 ना0शा0 34/91

74 वीरचरित 2/19

75. वीर चरित 2/10

76 ब्राह्मण जाति पवित्र है (वरि0 4–22)

77 धनिक कृतावलोक धीरोद्धत की व्याख्या में पृ0–1221

78. अङ्गभूतनायकानां नायकान्तरापेक्षया महासत्वादेख्यवस्थितत्वात्।

79. नाट्यशास्त्र (34–17) आसान्तु सम्प्रवक्ष्यामि विभागं शीलसंश्रयम्।

80 उक्ता नायकाभेदाश्चत्वारिंशत्तथाऽटौ च। सा0द0 3/38

81. डा0 निरूपण विद्यालंकार कृत सा0द0 की व्याख्या पृ0–116, प्रका0 रतिराम शास्त्री, साहित्य भंडार मेरठ। नवीन संस्करण 1997

82. दश0 2/10

83. काव्यालङ्कार रुद्रट 12/40 पर नमिसाधु की टिप्पणी

84. काव्या0 रुद्रट –12/41

85. रुद्रट, काव्या0 की रामदेव शुक्ल कृत व्याख्या, चौखम्बा विद्या भवन प्रकाशन संस्करण 1989, पृ0 –33–39 से साभार।

86. बारहवें अध्याय (रुद्रट काव्या0) के 40वें श्लोक के बाद 14 कारिकायें प्रक्षिप्त हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इन 14 कारिकाओं में अवस्था भेद से 1. स्वाधीनपतिक्ता 2. वासक सज्जा 3. अभिसारिका 4. उत्का 5. अभिसंधिता 6. प्रगल्भा 7. प्रोषितपतिका 8. खण्डिता, जो ये आठ प्रकार बताये गये हैं, उनकी 41वीं कारिका के साथ अन्विति नही बैठती क्योंकि 41वीं कारिका में अभिसारिका और खण्डिता तो सभी नायिकाओं

के भेद स्वीकार किये गये है। यह संगत नही कि वही विभेद पुनः बताये जायें।

87 इति साष्टाविंशतिशतमुत्तममध्यमाधमस्वरूपेण।

चतुरधिकाशीतियुक्तं शतत्रयं नायिकाभेदाः।। सा0द0 3/87

88. इतरा अप्यसंख्यास्ता नोक्ता विस्तरशङ्कया।। सा0द0 3/88

89. शृ.ति – 1/46

90. दशरुपककार ने इसे नायक के गुणों से युक्त (तद्‌गुणा) माना है दश0 द्वितीय/24, तथा सा0द0 में इसे नायक के सामान्य गुणों से युक्त बताया गया है।

91. सा0द0 3/56

92. आत्मन्यसर्वसकास्तिस्त्रो – काव्या0 12/16

93. दश0 द्वितीय/24, सा0द0 3/26

94 हेमचन्द्र कख्यानुशासन 7/23

95 शृ.ति. – 1/47

96. दश0 द्वितीय/15, दशरुपककार क्रमशः शीलवती, आर्जवयुक्ता व लज्जावती के उदा0 देते है।

97. सा0द0 तृतीय/57

98. शृ.ति. – 1/48

99. शृ.ति. – 1/49–50–51

100. दष0 द्वितीय/26

101. शीलसत्यार्जवोपेता रहः सम्भोग लालसा।

मुग्धा नववयः काया रतौवामा मृदुः कुधि।।

यतते रतिचेष्टासु पत्युर्वोडायनोहरम्।

अपराधे रूदत्येव न वदत्यप्रिय प्रिये।।

भाव प्रकाशन पृ0 96 पृ0 17–20

102 प्रथमावतीर्ण यौवनमदनविकारा रतौ वामा।

कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा।। सा0द0 तृतीय/58

103 मुग्धा तत्र नवोढा नवयौवनजनितमन्मथोत्साहा।

रतिनैपुणानभिज्ञा साध्वसपिहितानुरागा।। काव्या0 रुद्रट 12/8

104. तल्पे परिवृत्यात्ते सकम्पमालिङ्गमपहरति।

बदनं च चुम्बने सा पृष्टा बहुशोऽस्फुटं वक्ति।। रुद्रट काव्या 12/39

105. सकम्पा चुम्बने वक्त्रं हात्येबावगूहिता।

परावृत्य चिरं तल्प आस्ते रन्तुं च वाच्छति।। शृ.ति 1/52

106. शृ.ति. – 1/56

107 शृ.ति. – 1/54

108. शृ.ति. – 1/55

109. शृ.ति. – 1/58

110. मध्याविचित्रसुरता प्ररूढस्मरयौवना।

ईषत्प्रगल्भवचना मध्यमब्रीडिता मता।। सा0द0 3/59

111 मध्योद्ययौवनानङ्गा मोहान्सुरतक्षमा

112. गाढ़ं व्याप्रियते कान्तं पिबतीव रतौ प्रियम्।

विशतीव तदङ्गेषु मुह्यतीव सुखे यथा।। शृ.ति. – 1/63

113. साहित्यदर्पणकार ने विचित्र सुरता का उदाहरण शृ.ति. से ही लिया है।

114. व्याप्रियते सायस्ता सुरतेविशतीव नायिकाङ्गेषु।

सुरतान्ते सानन्दा निमीलिताक्षी विमुह्यति च।। रुद्रट काव्या0 12/22

115. अथास्या मान वृति.

धीरा सोत्प्रासवक्रोक्त्या मध्यासाश्रुकृतागसम्।

खदयेद्दयितं कोपादधीरा परूषाक्षरम्।। दश0 द्वितीय/17

116 सा0द0 3/59

117. तदवितथमवादीर्यन्मय त्व प्रियेति प्रियजनपरिभुक्तं यद्दुकूलं दधानः

मदधिवसतिमागाः कामिनामण्डन श्री ब्रजति हि सफलत्व वल्लभालोकनेन।।

साहित्य दर्पर्ण 3/61 के बाद

118. बाले नाथ! विमुञ्च मानिनि!रूषं, रोषान्मया कि कृत,

खेदोऽस्माम न मेऽपराध्यतिभवान् सर्वेपराधा मपि।

तीत्कं रोदिषि गद्गदेन वचसा, कस्यागतो रूद्यते,

नन्वेतन्मम का तवास्मि, दीयता, नास्मीत्यतो रूद्यते।।

119. शृ.ति. – 1/74

120. यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्गके

विलीयमानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्यचेतना।। दश0 द्वितीय/18

121 एवमन्येऽपि परित्यक्तहीयन्त्रणा वैरग्ध्यप्रायाः प्रगल्भाव्यवहार वेदितव्याः।

दशरूपक पेज 143, श्री निवास शास्त्रिणा सम्पादितम्।

122. द्रष्टव्य अमरू–107 टिप्पणी

123. नाट्य दर्पण 4–260

124. प्रतापरूद्र0 – 1/56

125. दृष्टव्य – 'यत्पाणिर्ननिवारितो' इत्यादि शृङ्गारतिलके, 1/78 तथा

'आगस्ता कलहं' इत्यादि अमरू/106

126 कृतदोषेऽपि सा धीरा तीस्मन्नाद्रियते रूषा।

टाकारसंवृत्तिं चापि कृत्वोदास्ते रतौ यथा।। शृ.ति – 1/76

127. तत्र कुपितापराधिनि सवृव्याकारमधिकमाद्रियते।

कोपमयह्नुत्यास्ते धीरा हि रहस्युढासीना।। काव्या0 12/26

128 शृ ति. – 1/81 मेघदूत 2/8 मे मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत

129. स्त्रीणांस्पशति प्रियङ्गुर्विकसति बकुल· सीधुगण्डूषसेकात् पादाद्यातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम्। मन्दापे नर्मवाक्यात् पटुमृदुहसनाच्चम्बको वाक्त्रवाताच् चूतो गीतान्नमेरूर्विकसीत च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः।।

130. सा0द0 3/36 का उदाहरण

131. With the help of Sringartilak] it is now Possible to assign to many stanzas of the Amrisataka their original purpose Especially as good many of Rudrara's (Rudra's??) Udaharans are but inoitations of Amrukas stnzas, some as mentioned in the notes mere copies 'Sringatilak' Edited by R. Pischel –P- 1- (Intro)

132. रुद्रट के टीककार नमिसाधु का कहना है 'अक्षतयोनित्वात् पुनर्विवाहिता पुनर्भू' (काव्याङ्कार 12/40 की व्याख्या) ऐसा प्रतीत होता है कि नमिसाधु के समक्ष रुद्रभट्ट का शृङ्गारतिलक अवश्य था अन्यथा यहां वे पुनर्भू की व्याख्या क्यों करते, जबकि रुद्रट सिर्फ इतना कहते हैं कि शास्त्रों में मुग्धा के अनन्य भेद प्रसिद्ध हैं (मुग्धा त्वनन्प भेदः काव्येषु तथा

प्रसिद्धत्वात्)। पुनर्भू के 3 भेद वात्स्यायन मुनि ने बताये है। पहला प्रकार वह है जब विधवा इन्द्रिय की दुर्बलता के कारण (असयम के कारण) धनवान व गुणवान पति को फिर से प्राप्त करे, उसे पुनर्भू कहते हैं। (विधवात्विद्रियदौर्बल्यात् आतुरा भोगिनं गुणसम्पन्न च या पुनविन्देन् सा पुनर्भूः। (कामसूत्र भर्याधिकारिकं चतुर्थमधिकरणम् द्वितीय अध्याय श्लोक 28।) वस्तुत. यही वात्स्यायन का अपना मत है क्योंकि इसके बाद द्वितीय लक्षण बाभ्रवीय के मतानुसार है तथा तीसरा मत साधारणीकरण रूप मे है।

द्वितीय लक्षण– यतस्तु स्वेच्छया पुनरपि निष्क्रमणं निर्गुणोऽयमिति तदान्यकांक्षेदिति बाभ्रवीयाः। (वही 29) अर्थात् विवाह के अनन्तर भी घर से निकल जाती है। और अन्य को चाह लेती हैं वे पुनर्भू कहाती है।

तृतीय लक्षण– सौख्यार्थिनी सा किलान्यं पुनर्विन्देत्। अर्थात् सुख की इच्छा से जो अन्य (पति) को प्राप्त होती है वह पुनर्भू है, ऐसा भी लक्षण है।

133. वात्स्यायन कामसूत्र – चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान (प्रकाशक) पेज–189–पुनर्मुद्रित संस्करण 1997।

134. मध्या पुनः प्रगल्भा च द्विविधा परिभिद्यते।

एका ज्येष्ठा कनिष्ठान्या नायक प्रणयं प्रति।। शृ.ति. 1/83

135 शृ.ति. – 1/84

136. शृ.ति. – 1/85

137. शृ ति. – 1/87

138. शृ.ति. – 1/104

139. शृ.ति. – 1/105

140 शृ ति – 1/109

141. शृ.ति. – 1/111

142. शृ.ति. – 1/113

143. शृ.ति. – 1/114

144. शृ.ति – 1/115

145 शृ.ति. – 1/117

146. शृ.ति. – 1/99

147. शृ.ति. – 1/100

148. शृ.ति. – 1/106

149. शृ.ति. – 1/119

150. काव्या0 14/13

151. काव्या0 14/14

152. दश0 द्वितीय/20

153 शृ.ति. – 2/120

154. काव्या0 12/99

155. शृ.ति. – 1/121

156 शृ.ति. – 1/122

157. And from Sringartilak 1, 129 fs (cfr 1.7) we must conclude that the was a great admirer of courtesans Sringartilak Edited by R. Pisohel Introduction Page 6

158 Rudrata (12-39-40) has not one good eord to say abut courtesans, but the Sriganrtilak, while admitting the

167. शृ.ति – 1/137, रुद्रट भी वासकसज्जा का यही लक्षण बताते हैं काव्या 12/40 के बाद प्रक्षिप्त अंश।

168 शृ ति. – 1/139

169. शृ ति. – 3/82

170 शृ.ति. – 1/141

171. काव्या0 12/40 के बाद के प्रक्षिप्त अंश से

172. दश0 द्वितीय/26

173. शृ.ति – 1/143

174. दश0 द्वितीय/25

175. पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसंयोगचिह्नितः।

सा खण्डितेति कथिता धीरैरीष्यकिषायिता।। सा0द0 3/75

176. शृ.ति. – 1/145

177 कामार्ताऽभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाभिसारिका।। दश0 द्वितीय/27

178. डा0 निरूपण विद्यालकारकृत साहित्यदर्पण की टीका पृ0–147 से

179. शृ.ति. – 1/152–53

180 शृ.ति. – 1/147

181. दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषितप्रिया।

182. नानाकार्यवशद्यस्या दूरदेशं गतः पतिः।

सा मनोभदुःखार्ता भवेत् प्रोषितभर्तृका।। सा0द0 3/84

183. शृ.ति. – 1/149

184. शृ.ति. – 1/150

185 शृ.ति. – 1/155

186. शृ.ति – 1/156

187. शृ.ति – 1/158

188 शृ.ति. – 1/160

189. शृ.ति. – 1/162

190 इतरा अप्यसंख्यास्ता नोक्ता विस्तारशङ्कया। सा0द0 तृतीय/88

191 चतुराधिकाशीतियुतं शतत्रय नायिकाभेदा.।। सा0द0 तृतीय/87

192 साहित्यदर्पण की डा0 निरूपण विद्यालंकार कृत व्याख्या पेज–155से

193 दश0 द्वितीय/23 की धनिककृत अवलोक व्याख्या।

रुद्रभट्ट विरचित शृङ्गार तिलक का

आलोचनात्मक अध्ययन

शोध प्रबन्ध

पञ्चम अध्याय

वृत्ति–विवेचन

वृत्ति – विवेचन

नायक आदि का व्यापार वृत्ति कहलाता है। अपनी दशरुपक की अवलोक टीका में धनिक लिखते हैं– "उक्तो नायक, तद् व्यापारस्तूच्यते" अर्थात् नायक का वर्णन किया जा चुका, अब उसके व्यापार (वृत्ति) का वर्णन करते हैं। तत्पश्चात् ही आचार्य धनञ्जय लिखते हैं "तद्व्यापारत्मिका वृत्तिश्चुतर्धा।" धनिक इसकी व्याख्या मे लिखते हैं कि प्रवृत्तिरुप नेता (या नायक) का जो व्यापार है उसका स्वभाव वृत्ति कहलाता है। प्रवृत्ति का अर्थ है मानसिक, वाचिक, कायिक चेष्टा। सामान्यतः नायक आदि के व्यापार अनेक प्रकार के होते हैं। वाचिक आदि चेष्टाओं के साथ साथ वह देश भेद से भिन्न –भिन्न प्रकार की भाषा बोलता है और भिन्न–भिन्न प्रकार की वेश–भूषा धारण करता है। और अन्य भी नाना प्रकार के क्रिया–कलाप में व्यस्त रहता है किन्तु वे सभी व्यापार नाट्यवृत्तियां नहीं कहलाते इसीलिए साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने नायकादिव्यापारविशेषा नाटकादिषु[1] में विशेष शब्द का ग्रहण किया है तथा धनिक ने प्रवृत्ति रुप यह विशेषण दिया है फलतः यह निष्कर्ष निकलता है कि नायक आदि का मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार नाट्य में वृत्ति कहलाता है।

इन वृत्तियों को काव्यानां मातृका वृत्तयः[2] नाट्यमातरः[3] नाट्यस्य मातृकाः कहा गया है, क्योकि कवि नायक आदि के कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापारो को वर्णनीय रुप से अपने हृदय में रखकर ही काव्य रचना करता है इसी से वृत्तियां काव्य की जननी कही जाती हैं।

---

[1] सा0 द0 6/123

[2] ना0 शास्त्र 18/4

ये वृत्तियां चार मानी जाती हैं सात्वती, भारती, कैशिकी तथा आरभटी। इनमे सात्वती वृत्ति विशेषत मानस व्यापार रुप होती है, भारती वाचिक व्यापार रुप और कैशिकी तथा आरभटी दोनो वृत्तिया विशेषकर कायिक व्यापार रुप होती हैं। किन्तु मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारों का असंकीर्ण रुप से होना तो असम्भव है, क्योकि कायिक और वाचिक चेष्टाए तो सर्वदा मानस चेष्टाओं पर ही आश्रित रहती हैं। इसलिए किसी एक अंश की प्रधानता के कारण ही वृत्तियों का यह भेद किया गया है, जैसे जिस वृत्ति मे वाक्‌चेष्टा की प्रधानाता है उसे भारती कह दिया गया है[4] इसके अतिरिक्त रसभेद तथा अभिनय भेद आदि भी वृत्तियों के भेदक माने जाते हैं। नाट्‌य में सभी व्यापार रस, भाव तथा अभिनय से युक्त होता है। अतः ये वृत्तियां भी रस भाव तथा अभिनय का अनुसरण करती हैं।[5] अभिनवगुप्त ने चारों वृत्तियों का स्वरुप संक्षेप मे इस प्रकार बताया है। पाठ्‌य प्रधाना भारती अभिनय प्रधाना सात्वती, अनुभावाद्यावेषमयरसप्रधानारभटी गीतवाद्योपरञ्जकप्रधाना कैशिकीति।[6]

रुद्रट और रुद्रभट्‌ट का भेद प्रतिपादन करते हुए डॉ० सुशील कुमार डे अपने संस्कृत काव्य–शास्त्र के इतिहास में[7] लिखते हैं कि "वृत्तियों के विवेचन में भी यही भेद दृष्टिगोचर होता है। भरत (XX24 इत्यादि) का अनुसरण करते हुए रुद्र ने (1.12 संप्रति पिशेल संस्करण में 1.19) चार सामान्य वृत्तियों (अर्थात् कैशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती) का उल्लेख किया है। मूलतः ये नाटक

---

[3] नाट्‌य दर्पण 3/155

[4] दृष्टव्य–नाट्‌य दर्पण–वृत्ति 3/155 तथा अभिनव भारती 20/25

[5] रसभावभिनयगा', नाट्‌य दर्पण (3/155)

[6] अभिनव भारती (20/23)

[7] संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, द्वारा डॉ० एस० के डे, पेज–82 हिन्दी अनुवाद डॉ मायाराम शर्मा

रचना की रीतिया मानी गई थी, किन्तु यहा इन्हे समान प्रयोजन के हेतु नाट्य कला से लेकर काव्य में ग्रहण कर लिया गया (तुलना कीजिए, भरत रचित उपर्युक्त ग्रन्थ 21) इसके विपरीत उद्‌भट[8] का अनुसरण करते हुए रुद्रट ने पाच वृत्तियों (अर्थात् मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा) का उल्लेख किया है । इनका उपर्युक्त चार से कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु अनुपास के अंतर्गत होने के कारण विशेष अक्षर विन्यास द्वारा वे मुख्यतः उपर्युक्त शब्द समन्वय को लक्षित करती है।"

रुद्रभट्‌ट को रुद्रट से अभिन्न प्रतिपादित करने के प्रयास मे भाव–प्रकाशन के सम्पादक महोदय का तर्क है कि "यह कहा जाता है कि रुद्र और रुद्रट को अवश्य ही भिन्न मानना चाहिए क्योकि दोनों ही वृत्तियों की संख्या के विषय में भिन्न मत रखते हैं। रुद्र को कैशिकी आदि चार की संख्या अभिमत है जबकि रुद्रट ने मधुरा आदि पांच को स्वीकार किया है, और इस प्रकार दोनों एक नहीं हो सकते। इस तर्क में कुछ अधिक सार नहीं है क्योंकि कैशिकी आदि वृत्तियां अर्थ की वृत्तियां मानी जाती है जबकि मधुरा आदि शब्द की वृत्तियां है, और इन दो प्रकार की वृत्तियों में कोई विषयगत साम्य नहीं है।",

इस प्रकार से इस समाधान पर, कि मधुरादि शब्द वृत्तियां है, जबकि कैशिकी आदि अर्थ की वृत्तियां है, हम दशरुपककार धनञ्जय व उनकी अवलोक–टीका का मतोल्लेख करना चाहेंगे। दशरुपककार का इस सन्दर्भ में कथन है–

[8] अनुप्रास के सम्बन्ध में उद्‌भट ने केवल तीन वृत्तियों अर्थात् परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या का उल्लेख किया है। (1–42)

एभिरङ्गैश्चतुर्धेयम् नार्थवृत्तिरतः परा।

चतुर्थी भारती सापि वाच्या नाटक लक्षणे।।

कैशिकी सात्वती चार्थवृत्तिमारभटीमिति।

पठन्तः पञ्चमी वृत्तिमौद्भटाः प्रतिजानते।।

दशरुपक II/60–61

इसकी व्याख्या में धनिक लिखते हैं–

"सा तु लक्ष्ये क्वचिदपि न दृश्यते न चोपपद्यते रसेषु, हास्यादीनां भारत्यात्मकत्वात्, नीरसस्य च काव्यार्थस्याभावात्।

तिस्रः एवैता अर्थवृत्तयः। भारती तु शब्द वृत्तिरामुखांगत्वात्तत्रैव वाच्या।"

अर्थात् वह (पञ्चमी वृत्ति (अर्थ वृत्ति) तो लक्ष्य ग्रन्थों (रुपकों) में कहीं भी दिखलाई नहीं देती और वह रसो में बन भी नहीं सकती क्योंकि सभी हास्य आदि रसो का स्वरुप भारती आदि चार वृत्तियों में ही समा जाता है। (यदि पूर्वपक्षी कहें कि अर्थवृत्ति रसों का अनुकरण न करती हुई भी पञ्चमी वृत्ति है, तो इस पर कहते है।) और कोई नीरस वस्तु काव्यार्थ नहीं हो सकती। इसलिए ये तीनों (कैशिकी, सात्वती, और आरभटी) ही अर्थ–वृत्तियां है। इनसे भिन्न अर्थवृत्ति नाम की कोई वृत्ति नहीं है। भारती नामक वृत्ति तो शब्द–वृत्ति है। वह आमुख का अंग है, इसलिए उसका वहीं (आमुख) के प्रकरण में वर्णन करना है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि धनिक के मत में कैशिकी, सात्वती, और आरभटी तीन अर्थवृत्तियां हैं और भारती एकमात्र शब्दवृत्ति है। उपर्युक्त कारिकाओं तथा धनिक की वृत्ति का व्याख्याकारों ने विविध प्रकार से अर्थ किया है। उद्भट

के अनुयायियो ने पाच वृत्तिया मानी हैं भारती, कैशिकी, सात्वती, आरभटी और अर्थवृत्ति जैसा की भाव प्रकाशन मे कहा गया है–

भारती सात्वती चैव कैशिक्यारभटीति च।

औद्भटाः पञ्चमीमर्थवृत्ति च प्रतिजानते।।

इस पर धनञ्जय एवं धनिक का कथन है कि चार ही वृत्तियां है । अर्थवृत्ति नाम की कोई पृथक अर्थवृत्ति नहीं अपितु कैशिकी, सात्वती, और आरभटी ये तीनों ही अर्थवृत्तियां हैं तथा चौथी वृत्ति भारती है जो शब्दवृत्ति है। अपनी स्थापना की सिद्धि के लिए धनिक ने दो युक्तियां दी हैं–

(1) कैशिकी आदि से भिन्न अर्थवृत्ति नामक कोई वृत्ति रुपको में दृष्टिगोचर नहीं होती

(2) सभी रुपक रसाश्रित होते हैं और सभी रसों का वर्णन भारती आदि वृत्तियो के अन्तर्गत ही आ जाता है, फिर वह पांचवी वृत्ति कहां रहेगी ? यदि कहो कि नीरस (रसहीन) रुपक में रहेगी तो ठीक नहीं, क्योंकि नीरस वस्तु रुपक या काव्य में हो ही नहीं सकती। भाव यह है कि काव्य के जितने रस हैं उनके क्षेत्र में इन चारों से कोई न कोई वृत्ति अवश्य रहती है, फिर ऐसा कोई स्थल नहीं शेष रहता जिसमें अर्थवृत्ति नाम की अन्य वृत्ति मानी जा सके।

रसार्णवसुधाकर (1–286) में भी कैशिकी आदि को ही अर्थवृत्ति कहा गया है

आसां तु मध्ये वृत्तीनां शब्दवृत्तिस्तु भारती।

तिस्रोऽर्थवृत्तयश्शेषाः तच्चतस्त्रो हि वृत्तयः।।

दशरुपक के मतोल्लेख के अनन्तर प्रसिद्ध जर्मन विद्वान महामहिम पी0 वी0 काणे का मत इस संदर्श में उल्लेख्य है।[9]

"यह कहना, कि कैशिकी" और अन्य वृत्तियां अर्थवृत्तियां हैं जबकि रुद्रट की पाचो वृत्तिया शब्दवृत्तिया, पहचान के मुद्दे पर ज्यादा मायने नहीं रखती। शृगारतिलक स्वयं भी कैशिकी और आरभटी की व्याख्या करते हुए सम्यक् वर्णो, शब्दो और समासों के महत्व पर जोर देती है।

माधुर्ययुक्ताल्पसमासरम्या वाणीस्मृता साविहकैशिकीति।।

ओजस्विगुर्वक्षरबन्धगाढ़ा ज्ञेया बुधैः सारभटीति वृत्तिः।।

"इसके अतिरिक्त इस बात का कोई तर्क नहीं है कि जब रुद्रट दस रसों की बात करते हैं, निर्वेदादि व्यभिचारि भावों की चर्चा करते हैं, श्रृंगार और नायक इत्यादि की बात करते हैं, (12–3–9 इत्यादि) और मधुरा और ललिता वृत्तियों का उल्लेख करते हैं, श्रृङ्गार के लिए वैदर्भी और पाञ्चाली रीतियों की चर्चा करते हैं, तो वे रसो के संदर्भ में व्यभिचारि भावो का उल्लेख करने के तुरन्त बाद कैशिकी और अन्य वृत्तियों का उसी क्रम में उल्लेख न करते।"

---

[9] उनके शब्दो मे–

To say that the वृत्तिऽ कैशिकी and others are अर्थवृत्तिऽ does not deserve much weight on the question of identity. The श्रृङ्गारतिलक also (III. 38 and 40) in defining कैशिकी और आरभटी does emphasize the importance of proper letters, words and compounds, माधुर्ययुक्ताल्पसमासरम्या वाणी स्मृतासाविह कैशिकीति।। ओजस्विगुर्वक्षर बन्ध गाढ़ा ज्ञेया बुधैः सारभटीति वृत्तिः। Besides there is no apparent reason referred to vyabhicheribhavas like nirveda set out Srinagar and heroes sc. (12-3-9 sc) and prescribed (in 14.37) the वृत्तिऽ मधुरा and ललिता and रीतिऽ वैढर्भी and पाञ्चाली for "श्रृङ्गार"he should not hare spoken of कैशिकी and other वृत्तिऽ which

रीति– रुद्रट नामो की वृत्ति (वर्तनी) के सन्दर्भ मे कहते है–

नाम्नां वृत्तिर्द्वेधा भवति समासासमासभेदेन।

वृत्तेः समासवत्यास्तन्न स्युः रीतयस्तिस्रः।।

(काव्या० 2/3)

अर्थात् नामो की वृत्ति समस्त और असमस्त भेद से दो प्रकार की होती है। समास से युक्त वृत्ति की तीन रीतिया होती है।

नमिसाधु इस पर टिप्पणी करते हैं–

नाम्नां वृत्तिवर्तनं द्वेधा, समासवत्यसमासवती चेति।

तयोरपि प्रकार विशेषमाह– तत्र तयोर्वृत्योर्मध्यात्समासवत्या

वृत्तेस्तिस्रो रीतयो भवन्ति। रीतिर्भङ्गिविच्छित्तिरिति पर्यायाः।।

(नामों की वृत्ति दो प्रकार की होती है समासवती और असमासवती। उनमें भी विशेष भेद बताते हैं– उन दोनों वृत्तियों में से समासवती वृत्ति की तीन रीतियां होती हैं (पाञ्चाली, लाटीया और गौडीया)[10] रीति, भङ्गि विच्छित्ति आदि पर्याय है।)

इस प्रकार से रुद्रट ने समासवती और असमासवती दो वृत्ति बतलाई तथा इनकी चार रीतियां प्रतिपादित कीं[11] (रुद्रट ने रीतियों का विभाजन समास के आधार पर किया है– समास से रहित रचना वैदर्भी रीति, दो तीन पदों के समास

---

are described in the sringartilak immediately after the inumeration of व्यभिचारिभावाs in relation to each rasa.

[10] काव्या० 2/4

[11] वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव।। रुद्रट काव्या० 2/6
पाञ्चाली लाटीया गौड़ीया चेति नामतोऽभिहिताः।
लघुमध्यायत विरचनसमासभेदादि मास्तत्र।।
द्वित्रिपदा पाञ्चाली लाटीया पञ्च सप्त वा यावत्।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथा शक्ति गौड़ीया।।
रुद्रट काव्यालंकार 2/4–5

वाली रचना लाटीया रीति और समास बहुला रचना गौडी रीति है।) असमासवती वैदर्भी है तथा समासवती पुन. तीन प्रकार की है– पाञ्चाली लाटीया और गौड़ी।

इसके अतिरिक्त रुद्रट ने अनुप्रास अलंकार के वर्णन के संदर्भ में अनुप्रास की पांच वृत्तिया गिनायी हैं– मधुरा, प्रौढा परुषा, ललिता और भद्रा।

पदसघटना या विशिष्ट प्रकार की पदसंघटना को रीति कहते हैं। पदसंघटना के लिए भरत ने सर्वप्रथम प्रवृत्ति पद का प्रयोग किया था जो कि विभिन्न प्रदेशो या भू–भागों से सम्बन्धित थीं। (काव्य में रीति या मार्ग के प्रयोग का आरम्भ पहले के युग मे भौगोलिक विशेषताओं के कारण आरम्भ हुआ था। विभिन्न प्रदेशों में रहने वाले आचार्य अपने प्रदेश की शैली में काव्य–रचना करते थे, इस कारण ये शैलियां या मार्ग इन प्रदेशों के नाम से प्रसिद्ध हो गए। यद्यपि उत्तरवर्ती युग में ये शैलियां किसी विशेष देश से सम्बन्धित न रहकर कवि की निजी प्रवृत्तियों से सबंधित हो गए।) भरत ने ही सर्वप्रथम काव्यगत गुणों का प्रतिपादन किया था जिनके आधार पर उत्तरवर्ती आचार्यो ने रीति के विशाल प्रासाद की रचना की।

वामन का काव्यालंकार सूत्र ही प्रथम ग्रन्थ है जिसमें काव्यगत रीति की स्पष्ट व्याख्या की गई। वामन से पहले भामह और दण्डी ने भी इसी ओर संकेत किया था परन्तु इन्होंने रीति का प्रयोग न करके मार्ग पद का प्रयोग किया। उनसे पूर्व भरत ने इसके लिए प्रवृत्ति का प्रयोग किया था। राजशेखर का कथन है कि पहले सुवर्णनाभ नाम के आचार्य हुए थे, जिन्होंने रीतिविषयक–ग्रन्थ की रचना की थी। परन्तु वर्तमान समय में यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

वामन से पूर्व काव्य की रचना के दो मार्ग कहे गए थे वैदर्भी और गौड़ीय। परन्तु वामन ने एक तीसरे मार्ग पाञ्चाल का भी प्रतिपादन किया। इस प्रकार

रीतियो की संख्या तीन हो गई वैदर्भी, गौड़ी, और पाञ्चाली। इन रीतियो मे भिन्नता गुणों मे भेद तथा उनकी संख्या के अल्प या अधिक होने से होती है। रीति के इतिहास मे रुद्रट का प्रमुख स्थान है। वे पहले आचार्य हैं, जिन्होंने रीति को भौगोलिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त करके काव्य व्यवहार की परम्परा में संयोजित किया। इन्होने वामन की तीन रीतियों में एक अन्य रीति लाटीया को भी जोडा। रुद्रट ने एक कार्य और भी किया कि रसों का भी रीतियो के साथ सम्बन्ध स्थापित किया तथा रसौचित्य के अनुसार रीतियों के संयोजन की व्यवस्था दी।

रुद्रट ने यह भी प्रतिपादित किया था कि मधुर और सुकुमार रसों शृङ्गार, प्रेय, करुण, भयानाक, और अद्भुत रसों का निवेशन वैदर्भी और पाञ्चाली रीति मे किया जाता है। कठोर और ओजप्रधान रसों रौद्र आदि का निवेशन लाटीया एवं गौड़ीया रीति में किया जाना चाहिए– दृष्टव्य है–

इह वैदर्भी रीतिः पाञ्चाली वा विचार्य रचनीया।

मधुरा ललिते कविना कार्ये वृत्ति तु शृङ्गारे।।[12]

वैदर्भी पाञ्चाली प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।

लाटीयागौड़ीये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम्।।[13]

रीति के इतिहास मे कुन्तक का नाम विशेष रुप से उल्लेखनीय है। कुन्तक ने रीति पद का प्रयोग न करके मार्ग पद का प्रयोग किया था। (रीति पद की रचना "रीङ् गतौ" धातु से होती है जिसका अर्थ होता है गमन या मार्ग) उन्होंने बैदर्भी रीति को सुकुमार मार्ग, गौडी रीति को विचित्र मार्ग, तथा पाञ्चाली

---

[12] रुद्रट काव्यालङ्कार (14/37)

[13] रुद्रट काव्यालङ्कार (15/20)

रीति की मध्यम मार्ग नाम दिया। कुन्तक के अनुसार इन मार्गों का भौगोलिक महत्व नहीं है, अपितु ये कवि के आन्तरिक गुणो एवं स्वभाव की बाहय अभिव्यक्ति है। मार्ग का सम्बन्ध कवि स्वभाव से है। कवि के स्वभाव अनन्त होने से मार्ग भी अनन्त हो सकते हैं परन्तु इनको तीन मार्गों मे वर्गीकृत किया जा सकता है। कुन्तक ने कालिदास आदि को सुकुमार मार्ग का, मातृगुप्त आदि को मध्यम मार्ग का, और बाणभट्‌ट, भवभूति आदि को विचित्र मार्ग का साधक बताया।

कुन्तक ने इन मार्गों के विशिष्ट तथा साधारण धर्मों का प्रतिपादन भी किया। सुकुमार मार्ग के चार विशिष्ट गुण हैं माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और अभिजात्य। विचित्र मार्ग के भी ये चारों ही विशिष्ट गुण हैं परन्तु इस मार्ग में ये पहले की अपेक्षा कुछ अधिक अतिशययुक्त हो जाते हैं और प्रयत्नसाध्य बाहय शोभा के उत्पादक होते है। मध्यम मार्ग में भी ये चारों गुण होते हैं। जिनमें अन्य मार्गों की विशिष्टता होती है।

रीति और वृत्ति

रीति और वृत्ति के परस्पर सम्बन्ध पर विचार करने के लिए वृत्ति को जान लेना आवश्यक है। काव्य में दो प्रकार की वृत्तियां होती हैं– अर्थ–वृत्तियां और शब्दवृत्तियां। भरतमुनि ने नाट्‌यशास्त्र में बताया है कि कैशिकी , सात्वती, आरभटी और भारती चार प्रकार की वृत्तियां है जोकि सभी काव्यों की माताएं हैं । इनके द्वारा ही दशरुपकों का अभिनय किया जाता है। आचार्यों ने इन वृत्तियों को अर्थ वृत्ति कहा है।

दशरुपककार कैशिकी, सात्वती और आरभटी को अर्थवृत्तिया कहते हैं तथा भारती को शब्दवृत्ति। किन्तु कुछ[14] आचार्यों ने तीन शब्द–वृत्तिया मानी है उपनागरिका, परुषा, और कोमला। ये शब्दवृत्तिया रस के अनुकूल क्रम में प्रायोजित की जाती हैं और वर्णों के क्रम द्वारा इनका नियोजन होना चाहिए। मम्मट ने अनुप्रास के दो भेदो छेकानुप्रास तथा वृत्यानुप्रास के निरुपण के प्रसंग में कहा है कि –

"नियतवर्णगत रसविषयक व्यापार वृत्ति कहलाते हैं।"

"वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः"

मम्मट काव्य प्रकाश/नवम उल्लास सू0 104 वृत्ति।

वस्तुतः वृत्ति, रीति, मार्ग, संघटना तथा शैली शब्द प्रायः समानार्थक के तुल्य प्रयोग किए जाते हैं। एक ही पदार्थ को भिन्न–भिन्न आचार्यों ने इन भिन्न नामों से व्यवहृत किया है। "वृत्ति" शब्द का प्रयोग उद्भट ने किया है। उन्होंने अपने "काव्यालंकारसार संग्रह" नामक ग्रन्थ मे उपनागरिका, परुषा तथा कोमला नाम से तीन प्रकार की वृत्तियों का वर्णन करते हुए उनके लक्षण आदि निम्नलिखित प्रकार से किए हैं

शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता।

परुषा नाम वृत्तिः स्याद् बह्वन्याद्यैश्च संयुता।।6।।

स्वरुपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः।

स्पर्शैयुर्ता च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः।।4।।

शैषैर्वर्णैर्यथायोगं ग्रथितां कोमलाख्यया।

ग्राम्यां वृतिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः।।

---

[14] उद्भट आदि

इन्ही तीन प्रकार की वृत्तियों को वामन ने तीन प्रकार की रीतियो के रुप मे, कुन्तक तथा दण्डी ने तीन प्रकार के मार्गों के रुप मे और आनन्दवर्धनाचार्य ने तीन प्रकार की संघटना के रुप मे माना है। सब जगह उनके लक्षण भी लगभग इसी प्रकार के दिए गए है। इसलिए उद्भट की वृत्तियां, वामन की रितियां, दण्डी और कुन्तक के मार्ग, तथा आनन्दवर्धन की संघटना एक ही भाव को व्यक्त करती है। उद्भट ने इन तीनो वृत्तियो मे वर्ण के साम्य को वृत्यनुप्रास कहा है।

सरुपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।

पृथक पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा।।

आचार्य मम्मट ने वृत्तियों की चर्चा न करके गुणों की चर्चा अष्टम उल्लास में की है। वामन ने जो दस प्रकार के गुण माने हैं उनका अन्तर्भाव उन्होंने माधुर्य ओज और प्रसाद तीनों गुणों में ही कर लिया है। इसके पश्चात् वर्णसंघटना को माधुर्य आदि गुणों का व्यञ्जक गुणवृत्ति से प्रतिपादित करके वक्ता,, वाच्य और प्रबन्ध को पदसंघटना का नियामक प्रतिपादित किया। मम्मट ने रीतियों का वर्णन वृत्यनुप्रास के अन्तर्गत किया है– उनका वृत्यनुप्रास तीन प्रकार का है[15] उपनागरिका, परुषा और कोमला। इनको ही वामन वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली रीति कह देते हैं। मम्मट के शब्दों में–

उपनागरिका– माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते।

परुषा– ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा।

कोमला– कोमला परैः

अब वे वामन का नाम लिए बिना ही कहते हैं–

---

[15] अलंकारशास्त्र का इतिहास, डॉ कृष्ण कुमार पेज–378 से

केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः।

रीतियो को इस प्रकार काव्य का बहिरंग साधन मानने तथा विशेष महत्व का न मानने के कारण ही आनन्दवर्धन और मम्मट ने इनकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं समझी। परन्तु रीतियों को काव्य का बहिरंग मानते हुए भी विश्वनाथ ने उनके महत्व का अनुभव किया। उन्होंने साहित्य दर्पण का पूरा नवां परिच्छेद रीतियो के स्वरुप का प्रदर्शन करने के लिए रखा। परन्तु विश्वनाथ ने रीति को काव्य की आत्मा के रुप मे स्वीकार नहीं किया अपितु इनकों रसों के उपकारक के रुप में प्रतिपादित किया। विश्वनाथ के अनुसार पदसंघटना रुप रीति की स्थिति काव्य में रसों के उपकारक के रुप में रहती है।[16] परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ इससे एक पग और आगे बढ़कर कहते हैं कि वर्णरचना रुप रीतियां माधुर्य आदि गुणों की अभिव्यञ्जक कही जा सकती है न कि वे रसों की अभिव्यञ्जक हैं।"[17]

आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में वृत्तियो की विवेचना निम्न प्रकार से करते हैं–

रसाद्युनगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान् यस्ता एव वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः।।
व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते।
तत्र रसानुगुण औचित्यवान वाच्याश्रयों यो व्यवहारस्ता एताः कैशिकाद्याः।
इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव।

---

[16] पदसंघटनारीतिरगसंस्था विशेषवत्।।
उपकर्त्री रसादीनाम्...... ....साहित्यदर्पण 9।।
[17] वर्णरचनाविशेषाणां माधुर्यादिगुणव्यञ्जकत्वमेव न रसाभिव्यञ्जकत्वम्,
गौरवान्मानाभावाच्च।।
(रसगंगाधर–प्रथम आनन)

अर्थात् रस आदि के अनुकूल शब्द और अर्थ का जो उचित व्यवहार है वही ये दो प्रकार की वृत्तियां मानी जाती है।

व्यवहार को ही वृत्ति कहते है। उनमें रसानुगुण औचित्ययुक्त जो वाच्य का व्यवहार है वे कैशिकी आदि की वृत्तियां है और वाचक (शब्द) के आश्रित जो व्यवहार है, वे उपनागरिकादि वृत्तिया हैं। रसदिपरतया (रसादि के अनुकूल, रसादि को प्रधान मानकर) प्रयुक्त की गयी (कैशिकी आदि तथा उपनागरिकादि) वृत्तियां नाटक और काव्य मे क्रमश· कुछ अनिर्वचनीय सौन्दर्य उत्पन्न कर देती है। रसादि उन दोनों प्रकार की वृत्तियों के आत्मभूत हैं और कथावस्तु आदि शरीरभूत हैं।

जैसा कि हम कह चुके हैं कि वृत्ति शब्द साहित्य में अनेक अर्थों मे प्रयुक्त होता है। यहां भरत के नाट्यशास्त्र की कैशिकी आदि और भट्टोद्भट आदि की अभिमत उपनागरिकादि वृत्तियों का अर्थव्यवहार और शब्दव्यवहार से भेद किया है। शब्दव्यवहार में भी शब्दरचना की दृष्टि से उपनागरिकादि और अर्थबोधानुकूल व्यापार की दृष्टि से अभिधा लक्षणा आदि को[18] वृत्ति कहा जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था से वृत्ति शब्द के तीन अर्थ बिल्कुल अलग–अलग और स्पष्ट हो जाते हैं।

डॉ0 डे का कहना है कि "अभिनवगुप्त के मत में (पृष्ठ 6) वामन की तीन रीतियां गुणों के विशिष्ट संयोग से क्रमशः उदात्त, कोमल, तथा मध्यवर्ती विषयों को परिलक्षित करती है। किन्तु इन रीतियों तथा उद्भट की वृत्तियों का गुणों तथा अलंकारों से भिन्न कोई अस्तित्व नही। अतएव रीति की अपेक्षा गुणों तथा अलंकारों पर अधिक ध्यान दिया जाना स्वाभाविक ही था, क्योंकि वामन के मतानुसार वे रीति के ही अंग है। रीति को केवल रस की निष्पत्ति में सहायक

---

[18] "ध्वन्यालोक" विश्वेश्वर कृत व्याख्या पृष्ठ 245 से।

विशिष्ट पद विन्यास अथवा वर्ण सघटन के रुप मे ही स्वीकार किया गया है। सामान्य अलंकारात्मक कल्पना के अनुसार रीति का रस से वही सम्बन्ध है जो शरीर का आत्मा से है। (पदसघटना रीतिसंस्था विशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम् विश्वनाथ ix) इसका तात्पर्य यह हुआ कि गुण और अलंकार रीति के पोषक न होकर रस के पोषक हैं, क्योकि परवर्ती काव्य सिद्धातों में रस को काव्य के एक मूल अंग के रुप मे स्वीकार किया गया है।"

डॉ0 एस0 के0 डे वृत्तियो और रीतियो के अन्तर को और भी अधिक स्पष्ट करते हैं। उन्हीं के शब्दों में– "सैद्धान्तिक रुप से वृत्ति तथा रीति के भेद भी सदैव स्वीकार किए गए हैं प्रारंभ मे वृत्तियां नाट्य प्रबन्ध की विभिन्न शैलियां थीं। (भरत 111/25) उद्भट ने उन्हें अनुप्रास के भेद माना है (1/4 इत्यादि) क्योकि विभिन्न रसों के निष्पादक (अभिनवगुप्त के कथनानुसार, "लोचन" पृ0 5–6) उपयुक्त विचारों की अभिव्यक्ति विशिष्ट अक्षरसंघटना अर्थात् अनुप्रास पर ही निर्भर होती है, अतएव रुटयक का कथन है

वृत्तिस्तु रसविषयों व्यापारः, तद्वती पुनर्वर्णरचनेहवृत्तिः, (पृ0 20–21) इसके विपरीत अधिकाशतः प्रबन्ध के विभिन्न गुणों का वस्तुनिष्ठ समंजन ही रीति है यद्यपि इसमें अर्थ को भी महत्व प्राप्त है। अक्षर संघटना से उत्पन्न मनोवैज्ञानिक प्रभाव तथा उस संघटना का निर्दिश्यमान अर्थ ही वृत्ति का विषय होता है। एक ही रीति अनेक वृत्तियों का कारण हो सकती है। और विभिन्न रीतियों में एक ही वृत्ति हो सकती है। यद्यपि आचार्यो ने समानता रखने के लिए प्रत्येक रीति की पृथक–पृथक वृत्ति निर्दिष्ट की है। आनन्दवर्धन ने स्पष्ट रुप में नाट्य–वृत्ति तथा काव्य–वृत्ति के परस्पर–भेद का उल्लेख किया है। उनका कथन है कि नाट्य–वृत्ति अर्थाश्रित होती है तथा काव्य–वृत्ति शब्द पर आश्रित होती है।

वाच्याश्रया यो व्यवहारस्ता एताः कैशिकाद्या वृत्तयः, वाचकाश्रयश्चोपनागरिकाद्या.।

प्रबन्धगत रसादि तात्पर्य से वे नाट्य तथा काव्य की शोभा को बढाती है। "वृत्तयों हि रसादि तात्पर्येण सन्निविष्टः कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च छायामावहति"(पृ0 182)।

राजशेखर ने (काव्यमीमांसा, पृ0 9) एक लघूक्ति मे इनके परस्पर भेद को व्यक्त किया है, यद्यपि उनका कथन शुद्ध नहीं है—

तत्रवेशविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलासविन्यास क्रमो वृत्तिः, वचन विन्यास क्रमोरीतिः।

रुद्रभट्ट ने वृत्तियों को "रसावस्थान सूचिका" कहा है अर्थात् उनके मत में वृत्तियां रस की (काव्य में) उपस्थिति का सूचन करती है। उन्होंने भरत की ही निम्नोक्त कारिका दो बार प्रयोग मे ली है—

कैशिक्यारभटी चैव सात्वती भारती तथा।

चतस्रो वृत्तयों ज्ञेयाः रसावस्थानसूचिकाः।।

भरत नाट्यशास्त्र 6/25 तथा रुद्रभट्ट का शृङ्गार तिलक 1/19 और 3/52।

वे इस संबध में भरत के पूर्ण अनुयायी है।

भरत मुनि के अनुसार ऋग्वेद से भारती वृत्ति, यजुर्वेद से सात्वती वृत्ति, सामवेद से कैशिकी तथा शेष अर्थात् आरभटी को अथर्ववेद से उत्पन्न जानना चाहिए।

ऋगवेदाद्भारती वृत्तिर्यजुर्वेदाष्तु सात्वती।

कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणी तथा।।

ना0 शा0

वृत्ति का सामान्य लक्षण है– "तत्र वर्तते रसोऽनयेति नायिकादि चेष्टाविशेषों वृत्ति"

अब विभिन्न वृत्तियों पर विभिन्न विद्वानों के विचारों का अवलोकन करते है।

कैशिकी

"अतिशयिनः" केशाः सन्ति आसामिति केशिकाः स्त्रियः।

स्तनकेशवतीत्वं हि स्त्रीणां लक्षणम्) तत् प्रधानत्वात् तासामियं कैशिकी"

कैशिकी वृत्ति रुद्रभट्ट के शब्दों मे निम्नष प्रकार है–

या नृत्यगीतप्रमदोपभेगवेषांगसंकीर्तनचारुबन्धा।

माधुर्ययुक्ताल्पसमासरम्या वृत्तिः स्मृतासाविहकैशिकीति ।।

शृ0 ति0 3/53

(जो वृत्ति नृत्य, गीत, स्त्री, उपभोग, वेश और अंगों के सुन्दर वर्णन से युक्त, माधुर्य से परिपूर्ण और छोटे–छोटे समासो से रमणीय होती है उसे कैशिकी कहते हैं।)

नाट्यशास्त्र के अनुसार कैशिकी वृत्ति सामवेद से उत्पन्न हुई अतः इसमें नृत्य गीत की प्रधानता का वर्णन किया गया है। नाट्य शास्त्र में भी लगभग यही लक्षण दिया गया है।

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंयुता वा बहुनृत्यगीता।

कामोपभोगप्रभवोवचारा तां कैशिकी वृत्तिमुदाहरन्ति।।

नाट्य शास्त्र 20/48

साहित्य दर्पण में नाट्य शास्त्र के कैशिकी लक्षण का अनुसरण करते हुए इसे अधिक स्पष्ट किया गया है। तदनुसार जो विशेष प्रकार की वेशभूषा से

चित्रित हो, जिसमे स्त्री पात्रो की बहुलता हो, नृत्यगीत की प्रचुरता हो, श्रृगारप्रधान व्यवहार हो, वह चारु विलासों से युक्त वृत्ति कैशिकी है।– दृष्टव्य–

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंकुला पुष्कलनृत्यगीता।

कामोपभोग प्रभवोपचारा सा कैशिकी चारुविलास युक्ता।।

नर्म च नर्मस्फूर्जो नर्मस्फोटोऽथ नर्मगर्भश्च।

चत्वार्यङ्गान्यस्याः वैदग्ध्यक्रीडितं नर्भ।।

सा० द० 6/124–125

नाट्यशास्त्र में बाद वाली कारिका निम्न प्रकार है–

नर्म च नर्मस्फूर्जो नर्मस्फोटोऽथ नर्मगर्भश्च।

कैशिक्याश्चत्वारो भेदा ह्येते समाख्याताः।।

नाट्य शास्त्र 20/49

साहित्य दर्पण, नाट्यशास्त्र एवं दशरुपक में कैशिकी के चार अंग भी गिनाये गये हैं–

साहित्यदर्पणकार के शब्दों में उसके अंग इस प्रकार है–

इष्टजनावर्जन कृतच्च्यापि त्रिविधं मतम्।

विहितं शुद्ध हास्येन स श्रृङ्गारमयेन च।।

साहित्य दर्पण 6/126

उनमें से 1. नर्म 2. नर्मस्फूर्ज 3. नर्मस्फोट और 4 नर्मगर्भ

ये चार इस कैशिकी के भेद होते हैं।

नर्मः– उनमे से नर्म का लक्षण है– वैदग्ध्य क्रीडितं नर्म। अर्थात् सामाजिकों की प्रीति को करने वाला चतुरतापूर्ण क्रीडा का नाम नर्म है।

नर्म के भेद निम्न प्रकार हैं–

(1) केवल हास्य के द्वारा विहित – रत्नावली मे

(2) श्रृङ्गारयुक्त हास्य के द्वारा विहित– अभिज्ञान मे और

(3) भययुक्त हास्य के द्वारा विहित–रत्नावली में

यह भययुक्त हास्य के द्वारा विहित नर्म भी तीन प्रकार का है–

(1) वाक्य सबंधी भययुक्त हास्य द्वारा विहित

(2) वेश संबंधी भययुक्त हास्य द्वारा विहित

(3) चेष्टा सम्बन्धी भययुक्त हास्य द्वारा विहित

इन सभी के उदाहरण विश्वनाथ देते हैं।

नर्मस्फूर्ज :–

नर्मस्फूर्जः सुखारम्भों भयान्तो नवसंगमः।

प्रारम्भ में सुखकर और अन्त में भयावह का समागम नर्मस्फूर्ज (नर्मण· परिहासस्य, स्फूर्ज.–भयावहाः,शब्दः लक्षण्या तादृशाभिनयवर्णनमिति यावत्) होता है।

महर्षि भरत ने नाट्यशास्त्र के बीसवें अध्याय में नर्मस्फूर्ज का इस प्रकार लक्षण किया है–

नवसंगसम्भोगी रतिसमुदयवेशवाक्यसंयुक्तः।
ज्ञेयो नर्मस्फूर्जो ह्यवमान भयात्मकश्चैव।।

इसके उदाहरण में मालविका नामक नाटिका में संकेत स्थान में अभिसृत मालविका के प्रति–राजा के वर्चस्व में सुन्दरि! इस सम्बोधन के कारण प्रारम्भ में सुख होने से और अवसान मे भय होने से मालविका का नर्मस्फूर्ज है।

नर्मस्फोट–

विश्वनाथ के अनुसार–

नर्मस्फोटो भावलेशैः सूचिताल्परसों मतः।

(किंचित किचित प्रकाशित भावों से सूचित किया है अल्प शृङ्गार रस जिसमे ऐसा नर्म स्फोट नर्मण स्फोटः अभिव्यक्तिर्यत्र सः) माना गया है।

भरतमुनि के अनुसार

विविधानां भावानां लवैर्लवैर्भूषितो बहुविशेषः।

असमग्राक्षिप्त रसो नर्मस्फोटस्तु विज्ञेयः।। इति।।

यथा मालतीमाधव में अलसगमनदिक भावलेशों से माधव का मालती में अनुराग (विप्रलम्भरस) किचिद् रुप से प्रकाशित होता है।

नर्मगर्भ–प्रच्छन्न रुप से विद्यमान नायक का व्यवहार नर्मगर्भ होता है

(नर्म–क्रीडायां रहस्यार्थकथनं गर्भे यस्य तथोक्तः होता है।)

विश्वनाथ के शब्दों में–

नर्मगर्भो व्यवहृतिर्नेतुः प्रच्छन्नवर्तिन :।

यथा तत्रैव (मालतीमाधवे) सखीरुप धीरणामाधवेन मालत्या मरणव्यवसाय वारणम्।

महर्षि भरतमुनि के अनुसार लक्षण–

विज्ञानरुपसम्भावनादिभिर्नायको गुर्णर्यत्र।

प्रच्छन्नैर्व्यवहरते कार्यवशान्नर्मगर्भोऽसौ।।

दशरुपककार के अनुसार कैशिकी यह है–

तत्र कैशिकी

गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः शृङ्गारचेष्टितैः।

नर्मतत्स्फिञ्जतत्स्फोटतद्गर्भैश्चतुराङ्गिका।।

वैदग्ध्य क्रीडितं नर्म प्रियोपछन्दनात्मकम्।

हास्येनैव स शृङ्गारभयेन विहितं त्रिधा।।

आत्मोपक्षेप संभोगमानैः शृङ्गार्यपि त्रिधा।।

शुद्धभंगभयं द्वेधा त्रेधा वाग्वेषचेष्टिवैः।

सर्वं सहास्यमित्येवं नर्माष्टादशधोदितम्।।

नर्मस्फिञ्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसंगमे।

नर्मस्फोटस्तु भावानां सूचितोऽल्प रसो लवैः।

छन्ननेतृ प्रतीचारो नर्मगर्भोऽर्थहेतवे।।

अङ्गैः सहास्य निर्हास्यैरेभिरेषाऽत्र कैशिकी।।

दश0 ii/47–48–49–50–51–52

उनमें गीत नृत्य विलासादि श्रृंगारिक चेष्टाओं से कोमल वृत्ति कैशिकी होती है। अर्थात् उन चार प्रकार की वृत्तियों) में गीत, नृत्य, विलास, कामोपभोग इत्यादि से युक्त अतएव मृदु (सुकुमार) तथा शृङ्गार–पूर्ण अर्थात् कामरुपी फल की प्राप्ति से संबद्ध (नायक आदि का) व्यापार कैशिकी वृत्ति है। धनिक)

और उसके नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ भेद से चार अंग होते हैं। प्रिय को प्रसन्न करने वाली विदग्धता से युक्त क्रीडा को नर्म कहा जाता है।

वह नर्म प्रथमतः तीन प्रकार का होता है–

(1) केवल हास्य से किया गया

(2) शृङ्गार सहित हास्य से किया गया

(3) भय सहित हास्य से किया गया

इनमे (2) शृङ्गार सहित (हास्य से किया गया) भी तीन प्रकार का है– आत्मोपक्षेप, सम्भोग और मान।

(3) भययुक्त (हास्य से किया गया) भी दो प्रकार का है शुद्ध और अग। फिर हास्य नर्म सहित ये सब (अर्थात् कुल छ. प्रकार के नर्म) वाक्, वेष और चेष्टा के भेद से तीन तीन प्रकार के होते हैं। इस प्रकार नर्म अठारह प्रकार का कहा गया है।

(1) आत्मोपक्षेप – नायिका द्वारा अपने अनुराग का निवेदन

(2) सम्भोग – नायिका द्वारा सहवास की इच्छा प्रगट करना

(3) मान (प्रतिभेदन) – अपराध करने वाले प्रिय के प्रति कोप

कैशिकी का प्रयोग –

रुद्रभट्ट के मतानुसार शृङ्गार, हास्य और करुण रस के आधिक्य की सिद्धि के लिए विद्वानों को प्रयत्नपूर्वक इस वृत्ति का प्रयोग करना चाहिए–

शृङ्गारहास्यकरुणरसतिशयसिद्धये।

एषा वृत्तिः प्रयत्नेन प्रयोज्या विबुधैर्यथा।।

भरत के मतानुसार

" शृङ्गारहास्य बहुला कैशिकी परिचक्षिता"

भरत ने सिर्फ शृङ्गार और हास्य से युक्त कैशिकी को कहा है जबकि इसमें करुण को समाहित करना रुद्रभट्ट को अपनी मौलिकता है। दशरुपककार भी कैशिकी में शृङ्गार और तज्जन्य हास्य के प्रयोग की अनुमति देते हैं। भरत नाट्यशास्त्र (20/73–74) में स्पष्टतः शृङ्गार आदि नव रसों के साथ कैशिकी आदि चारों वृत्तियों का सम्बन्ध दिखलाया गया है।

रुद्रभट्ट कैशिकी वृत्ति का तीन उदाहरणों द्वारा समर्थन करते हैं– ये निम्न हैं–

सौन्दर्यं शशलाञ्छनस्य कविभिर्मिथ्यैव तद्वर्ण्यते
शोभेयं क्वनु पंकजस्य रजनी संयोग भग्नात्विषः।
इत्यालोच्य चिराय चारु रुचिरं त्रस्यत्कुरंगीदृशो
वीक्षेते नवयौवनोन्नतमुखौ मन्ये स्तनावाननम्।।

हस्तेषु कुसुमायुधस्य ललितं रागाश्रियों लोचनं
सौभाग्यैकगृहं विलासनिकषो वैदग्ध्यसिद्धिध्वजः।
साक्षीदं मधुबान्धवस्य निभृतं कस्यापि लीलानिधेः
कक्षान्तर्नखमण्डलं सखि नवं प्रच्छाद्यतां वाससा।।

समुल्लसत्काञ्चनकुण्डलोज्जवला प्रभापि तापाय बभूय येष्वलम्।
विलासिनीरम्य मुखाम्बु जन्मसु प्रजज्जवलुस्तेष्वकृशः कृशानवः।।

आरभटीः–

नाट्यशास्त्र के अनुसार जहां प्रचुरता से आरभट के गुण हों, जो बहुत प्रकार के कपट और वञ्चना से युक्त हो, दम्भ तथा अनृत वचनों से युक्त हो, वह आरभटी वृत्ति होती है। आर अर्थात् अंकुश (प्रतोद) के समान उद्धत योद्धा ही आरभट कहलाते हैं।

"आरेण प्रतोदकेन तुल्या भटा उद्धताः पुरुषा आरभटाः" (ना०द०)

यह आरभटी वृत्ति सब प्रकार (आंगिक, वाचिक, मानसिक के व्यापारो से युक्त होती है तथा इसमे सभी प्रकार के (आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य) अभिनय भी होते हैं। रुद्रभट्ट के शब्दों मे आरभटी निम्नोक्त है–)

या चित्रयुद्धश्रमशस्त्रपात मायेन्द्रजालप्लुतिलङ्घिताढ्या।

ओजस्विवर्णाद्रुतदुर्विगाहया ज्ञेया बुधैः सारभटीति वृत्तिः।।

रौद्रे भयानके चैव बीभत्से च विचक्षणैः।

काव्यशोभाकारी वृत्तिरियमित्थं प्रयुज्यते।।

शृङ्गारतिलक 3/5859

जो वृत्ति चित्र, युद्ध, श्रम, शस्त्रपात, माया, इन्द्रजाल, उत्प्लवन, लङ्धन आदि से मुक्त, ओजस्विवर्णविशिष्ट, द्रुत और कठिनता से बोधगम्य होती है उसे आरभटी जानना चाहिए। विद्वान लोग रौद्र, भयानक और वीभत्स रस में काव्य की शोभा बढाने वाली इस वृत्ति का प्रयोग इस प्रकार करते हैं–

अब रुद्रभट्ट की आरभटी की छटा दर्शनीय है

शस्त्रोछ्दारितकुम्भिकुम्भविगलद्रक्ताक्तामुक्ताफल

स्फारस्फूर्जितकान्तिकल्पितबृहच्चञ्च्चतुष्कार्चितम्।

क्रोधोद्धावितधीरधोरणिरणरणत्खंगाग्रमुग्राग्रहं।।

युद्धं सिद्धवधूगृहीतसुभटं जातं तदा दुर्धरम्।।

शृ0 ति0 3/60

नायं गर्जिरवो गभीरपरुषं तूर्यं तदीयं त्विदं

नैते भीमभुजंग भोगरुचयो मेघा इमे तद्गजाः

इत्थं नाथ नवाम्बुवाहसमये त्वत्सैन्यशंकाकुला

म्लायद्ववक्त्ररुचो विरोधिवनिताःस्त्रस्यन्तिनश्चन्तिच

शृ० ति० 3/62

पिबन्नसृगदन्मांसमाकर्षन्नत्रमालिकाम्

कबन्धसंकुले क्रोष्टा भ्रमत्येष महारणे।

शृ० ति० 3/62

नाट्यशास्त्र के अनुसार आरभटी वृत्ति का उद्भव अथर्ववेद से हुआ। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि आरभटी का निर्वचन निम्न शब्दो में करते हैं–

आरभटप्रायगुणा तथैव बहुकपटकञ्चनोपेता

दम्भानृतवचनवती त्वारभटी नाम विज्ञेया।।

पुस्तावपातप्लुतलङ्गिधतानि च्छेद्यानिमायाकृतमिन्द्रजालम्।

चित्राणि युद्धाणि च यत्र नित्यम् तां तादृशीमारभटीं वदन्ति।।

सक्षिप्तकावपातौ वस्तूत्थापनमथापि सम्फेटः।

एते ह्यस्या भेदा लक्षणमेषां प्रवक्ष्यामि।।

ना० शा० 20/56–57–58

भयानके च बीभत्से रौद्र चारभटी भवेत् ना० शा० – 20/64

आरभटी के भयानक, बीभत्स और रौद्र रस मे प्रयोग के प्रति भरत और रुद्रभट्ट एकमत हैं।

दशरुपककार के मत में आरभटी

आरभटीपुनः

मायेन्द्रजालसंग्राम क्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः।।

संक्षिप्तिका स्यात्संफेटो वस्तुत्थानावपातने।

संक्षिप्तवस्तुरचना सक्षिप्तिः शिल्पयोगतः।।

पूर्वनेतृनिवृत्याऽन्यें नेत्रन्तरपरिग्रहः।।

संथेटस्तु समाधानः क्रुद्धसंरब्धयोर्दयो.।।

मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तुत्थापनमिष्यते।

अवपास्तु निष्काम प्रवेश त्रासविद्रवैः

एभिरंगैश्चतुर्धेयम्– दशरुपक II/56–60

माया,[19], इन्द्रजाल[20], संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्ति, आदि चेष्टाओं के द्वारा आरभटी वृत्ति होती है। इसके संक्षिप्तिका, संफेट, वस्तूत्थान और अवपातन (ये चार अंग) होते है। उसमें शिल्प के द्वारा संक्षिप्त रुप मे किसी वस्तु की रचना कर देना संक्षिप्ति कहलाती है।[21] अन्य आचार्य कहते हैं कि पूर्व नायक के हट जाने पर दूसरे नायक का आ जाना संक्षिप्ति है। (जैसे बलि के हट जाने पर सुग्रीव नायक होता है।)

संफेट – क्रुद्ध तथा उत्तेजित दो व्यक्तियों का एक दूसरे पर प्रहार करना समाधात सफेट नाम आरभटी वृत्ति का अंग है।

वस्तूत्थापन– माया आदि के द्वारा वस्तु को उपस्थित कर देना वस्तूत्थापन नामक आरभटी वृत्ति का अंग है।

अवपात – पात्रों के निष्क्रमण, प्रवेश, त्रास तथा (आग लगने आदि के द्वारा की गई) भगदड (विद्रव) आदि के वर्णन द्वारा अवपात (नामक) आरभटी वृत्ति का अंग होता है।

---

[19] माया का अर्थ है– मन्त्र की शक्ति से अविद्यमान वस्तु को दिखला देना,

[20] इन्द्रजाल– तन्त्र शक्ति से अविद्यमान वस्तु को दिखला देना।

[21] मिट्टी, बास, पत्ते, चमडा आदि पदार्थों को जोडकर किसी वस्तु को उत्पन्न कर देना सक्षिप्ति है। जैसे उदयन के चरित्र में चटाई (किलिञ्ज) के बने हाथी का प्रयोग है।

इन अंगों के द्वारा यह आरभटी वृत्ति चार प्रकार की होती हैं

साहित्यदर्पणकार ने आरभटी का निम्न शब्दों मे विवेचन किया है।

"मायेन्द्रजालसंग्राम क्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः।।

संयुक्ता बधवन्धाद्यैरुद्धतारभटी मता।

वस्तूत्थापन संफेटी संक्षिप्तिरवपातनम्।।

इति भेदास्तु चत्वार आरभट्याः प्रकीर्तिताः।

मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमुच्यते।।

संफेटस्तु समाधानः क्रुद्ध संवत्सस्योर्द्वयोः।

संक्षिप्ता वस्तुरचना शिल्पैरितरथापि वा।।

संक्षिप्तिः स्यान्निवृत्तौ च मेतुर्नेत्र न्तरग्रहः।

प्रवेशत्रास निष्क्रान्ति हर्षविद्रवसंभवम्।।

अवपातनमित्युक्तं–" सा0 द0 6/132–136

माया, इन्द्रजाल (परस्पर विरुद्ध अनेक प्रकार की वस्तुओं का दिखावा तथा विस्मयजनक व्यापार विशेष) युद्ध, क्रोध के कारण उद्भ्रान्त अधीरिता से कार्य को करना (आदि पद से साहसदिको का ग्रहण होता है। व्यापारों से (तथा) वध बन्धनादिकों से युक्त उद्धत उग्रवृत्ति आरभटी मानी गई है।)

वस्तूत्थापन–मायादि से (आदि पद से तपः प्रभावादि का ग्रहण होता है।) उत्पन्न की हुई वस्तु को वस्तुत्थापन नामक आरभटी का भेद कहते हैं।

सम्फेट–क्रुद्ध और शीघ्रता से युक्त दोनों का परस्पर सम्यक् प्रहार

संक्षिप्ति– शिल्प अर्थात् विलक्षण वस्तु निर्माण के कौशल से, अथवा शिल्प से भिन्न किसी अन्य प्रकार से वस्तु की संक्षिप्त रचना संक्षिप्ति होती है। तथा नायक

के अपने व्यापार से निवृत्त हो जाने पर अन्य नायक कर ग्रहण संक्षिप्ति कहलाता है।

भिन्न नायक का ग्रहण दो प्रकार से होता है व्यक्ति भेद से और धर्म भेद से।

अवपातन– प्रवेश, भीति, निष्क्रमण हर्ष और पलायन की उत्पत्ति को अवपातन नामक आरभटी का भेद कहते है।

सात्वती वृत्ति–

सत्व प्रकाशस्तद्यत्रास्ति तत्सत्वं–मनस्तत्र भवा सात्वती

सत्व का अर्थ है मन, उसका व्यापार सत्व, शौर्य त्याग, दया, हर्ष आदि भावो के रुप में होता है और इसको सात्विक, वाचिक तथा आंगिक अभिनयों के द्वारा प्रगट किया जाता है। किन्तु इसमे सात्विक अभिनय की ही प्रधानता होती है। इसीलिए नाट्य में इस नायक व्यापार को सात्वती वृत्ति कहा जाता हैं

मानसिक व्यापार अनेक प्रकार का होता है, उन सब की गणना करना असंभव है। फिर भी नाट्याचार्यों ने उन मानस व्यापारों का चार भागों में विभाजन किया है। ये ही सात्विक वृत्ति के चार अंग कहे गए हैं। नाट्यशास्त्र में इन चारों का वर्णन है किन्तु भाव प्रकाशन तथा नाट्रयदर्पण में नहीं। आगे चलकर साहित्य दर्पण मे भी इनका विवेचन है। भरतमुनि ने सात्वती का उद्गम यजुर्वेद से माना है।

रुद्रभट्ट के अनुसार सात्वती है–

हर्षप्रधानाधिक सत्ववृत्तिस्त्यागोत्तरी दारवचोमनोज्ञा।

आश्चर्यसंपत्सुभगा च या त्यात्सा सात्वती नाम मतात्र वृत्तिः।।

नातिगूढ़ार्थ सम्पत्तिः श्रव्यशब्दमननोरमा।

वीरे रौद्रेऽद्भुते शान्ते वृत्तिरेषा मता यथा।।

जिसमें हर्ष की प्रधानता होती है, अधिक सत्व (गुण) होता है, जो त्याग के बाद उदार वाणी से युक्त होती है और जो आश्चर्य एव ऐश्वर्य से सुशोभित होती है वह सात्वती नाम की वृत्ति मानी जाती है।

श्रवण सुखद शब्दो से मन को भाने वाली यह अत्यन्त गूढ अर्थों से युक्त नही होती। यह वीर, रौद्र, अद्‌भुत और शान्त रस मे अभिमत है।

रुद्रभट्‌ट ने सात्वती वृत्ति के निम्नोक्त उदाहरण दिए हैं–

लक्ष्म्यास्त्वं जनको निधिश्च पयसां निःशेषरत्नाकरो।
मर्यादानिरतस्त्वमेव जलधे ब्रूतेऽत्र कोऽन्यादृशम्।।
कि त्वेकस्य गृहागतस्य बड़वावह्नेः सदा तृष्णया।
क्लान्तस्योदरपूरणेऽपि न सहो यतन्महन्मध्यमम्।।

स्फारितात्कटकठोरतारका कीर्ण वह्निकणसंततिः क्रुधा।
दुर्निमित्ततडिदाकृतिर्वभौ दृष्टिरिष्टसमरांशुमालिनः।।

अत्यद्‌भुतं तव नराधिप कीर्तिर्धवलयत्यपि जगत्ति।
रक्तान्करोति सुहृदो मलियति च वैरी वदनानि।।

निवृत्तिविषयासंग मधुनां सुचिराय में।
आत्मन्येव समाधानं मनः केवलमिच्छति।।

शृङ्गारतिलक 3/65–66–67–68

अर्थ क्रमशः – हे समुद्र! तुम लक्ष्मी को उत्पन्न करने वाले जल के आगार हो, निरिबल रत्नो के ग्रह हो, मर्यादारत रहने वाले तुम्हीं हो इसमे किसे विप्रतिपत्ति है लेकिन घर पर आये एक बडवानल के सदा प्यास से क्लान्त उदर को भले में भी जो तुम समर्थ नहीं हो, वह बहुत ही मध्यम अर्थात् अकीर्तिकर है।

क्रोध के कारण विस्तृत, उत्कट एवं कठिन पुतलियों वाली, अग्नि के कण समूह को छिटकाने वाली और दुर्निमित्तसूचक विद्युत के समान आकार वाली युद्धाभिलाषी सूर्यरुपी (राजा की) आंखे शोभित हो रही है।

हे राजन यह बहुत आश्चर्यजनक बात है कि सम्पूर्ण संसार को शुभ करने वाली भी तुम्हारी कीर्ति तुम्हारे मित्रों को रक्त (लाल अनुरागयुक्त) कर रही है और शत्रुओं के मुख को मलिन (धूमिल या उदास कर रही है।)

इस समय मेरा मन विषयों की आसक्ति से मुक्त होकर चिरकाल के लिए केवल आत्मा में ही समाहित हो जाना चाहता है।

दशरुपककार सात्वती का लक्षण निम्न प्रकार से देते हैं–

विशोका सात्वती सत्वशौर्यत्यागदयार्जवैः।

संलापकोत्थापकावस्यां सांघात्य परिवर्तकः

संलापको गमीरोक्ति नानाभावरसा मिथः।

उत्थापकस्तु यत्रादौ युद्धयोत्थापयेत्परम्।।

मन्त्रार्थ दैवशक्त्यादेः साङ्धात्य संगभेदनम्

प्रारब्धोत्थान कार्यान्यकरणात्परिवर्तकः

एभिरंगैश्चतुर्धेयं सात्वती.............................

दशरुपक II/53–54–55–56

सात्वती शोकरहित होती है यह सत्व, शौर्य, त्याग, दया, और सरलता आदि भावो से युक्त होती है। इसमे संलापक, उत्थापक, साघात्य और परिवर्तक ये चार अग होते है।

संलापक— उनमे अनेक प्रकार के भावो तथा रसो से युक्त पात्रो की पारस्परिक उक्ति (कथोपकथन) में सलापक (नामक भारती वृत्ति का अंग) होता है।

उत्थापक— जहां एक पात्र दूसरे को पहले पहल (आदौ) युद्ध के लिए उत्तेजित करे वहां उत्थापक (नामक सात्वती वृत्ति का अंग) होता है।

परिवर्तक—आरम्भ किए गए उत्थान (पौरुष पराक्रम) के कार्य से भिन्न कार्य करने लगना परिवर्तक (नामक सात्वती वृत्ति का अंग) है।

उदाहरण— जैसे परशुराम क्रोध मे राम से झगडते लडते अचानक गले मिलने की बात करने लगे यह परिवर्तक है।

आचार्य विश्वनाथ अपने साहित्य दर्पण में सात्वती की इस प्रकार व्याख्या करते है—

सरस्वती बहुला सत्वशौर्यत्यागदयार्जवैः।।

सहर्षा क्षुद्र शृङ्गारा विशोका साद्भुता तथा।

उत्थापकोऽथ सांधात्य संलापः परिवर्तकः

विशेषा इति चत्वारः सात्वत्याः परिकीर्तिताः

उत्तेजनकारी शत्रोर्षगुत्थापक उच्यते।।

मन्त्रार्थ दैवशक्त्यादेः सांघात्यः संगभेदनम्।

संलापः स्यादगभीरोक्तिनानाभावसमाश्रयाः।।

प्राख्यादन्यकार्याणां करणं परिवर्तकः।

साहित्यदर्पण 6/128–129–30–31–32

महानुभावता अथवा अध्यवसाय, बल, दान, सामर्थ्य दया और ऋजुता से युक्त, आनन्द से युक्त, अल्प श्रृंगारवाली, शोकरहित तथा चमत्कार से युक्त (वुत्ति) सात्वती (सत्–सत्वप्रकाशस्तद्यत्रास्ति तत्सत्व मनस्तत्र भवा सात्वती) कहलाती है। (साराश यह है कि शोकरहित सत्व,शौर्य, त्याग, दया, ऋजुता तथा हर्षदि भावो से युक्त नायक का व्यापार सात्वती वृत्ति कहलाता है।) इसके उत्थापक , साघात्य, संलाप और परिवर्तक ये चार भेद होते है।

उत्थापक – प्रतिनायक की क्रोध को उद्दीप्त करने वाली अथवा अतिशय उत्साह का प्रवर्तन करने वाली वाणी उत्थापक कहलाती है। (उत्थापयति–प्रशयं निवर्त्य युद्धार्थमुद्योजयति शत्रुं योऽभिनयः स तथोक्तः, उपचारात् तत्प्रयोजिका वागपीति यावत् उच्यते)

जैसे परशुराम द्वारा जीतने के लिए राम को युद्धार्थ उत्तेजित करने के कारण उत्थापक है।

सांघात्य–मन्त्रणाशक्ति, अर्थशक्ति और दैवशक्ति (आदि से कौशलादि का ग्रहण होता है) सहायकों को पृथक करना सांघात्य नामक सात्वती का भेद होता है।

नाट्यशास्त्र में इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है–

मन्त्रार्थवाक्ययुक्त्या दैववशादात्मयोगाद्वा।

सङ्घातभेदजननस्तज्ज्ञैः साङ्घात्यको ज्ञेयः।।

उदाहरण– जैसे मुद्रा राक्षस इत्यादि में चाणक्य द्वारा सत्वदानादि अनेक प्रकार से सहायको का भेदन करने से सांघात्य है।

संलाप—नाना विषयो की आश्रयभूता गम्भीर अर्थ वाली उक्ति संलाप नामक सात्वती का भेद होती है।

यथा वीरचरित में— "सपरिवार" इसके कहने से "तुम बडे वीर हो" , "वरिवत्सर" इसके कहने से "तुम बडे उद्यमी हो", प्रिय. इसके प्रयोग से परशु अत्यन्त उत्कृष्ट है— इन सबके द्योतन करने के कारण सलाप है।

परिवर्तक—परिवर्तयतिकर्तारमिति परिवर्तकः।

प्रारंभ कार्य से अन्य कार्य को करने पर परिवर्तक नाम सात्वती भेद होता है—

उदाहरणार्थ यथा— वेणीसंहार में—भीम सहदेव से कहते हैं "तुम जाओ, युधिष्ठिर का अनुसरण करो, जब तक मैं भी शस्त्रागार में प्रवेश कर शस्त्र धारण कर लूं, अथवा मुझे द्रौपदी के साथ विचार—विमर्श करना ही चाहिए।"

यहां प्रारंभ कार्य युद्ध है, इससे भिन्न अथवा इससे द्रौपदी के साथ विचार विमर्श करने के कारण कार्य के बदल जाने से परिवर्तक है।

सात्वती और कैशिकी वृत्ति में भेद—

सात्वती वृत्ति के अन्दर अल्पश्रृंगार होने के कारण स्त्री बहुलता तथा कामोपभोग से रहित होने के कारण तथा वीर रस होने से कैशिकी से भेद समझना चाहिए।

भरत ने सात्वती का वर्णन नाट्यशास्त्र में इस प्रकार किया है—

या सात्वती नेह गुंणेन युक्ता व्यापेन वृत्तेन समन्विता चं।
हर्षोत्कटा संहृत शोकभावा सा सात्वती नाम भवेतु वृत्तिः।।
वागंगभिनयवती सत्वोत्थानवचन प्रकरणेषु।
सत्वाधिकार युक्ता विज्ञेया सात्वती वृत्तिः।।

वीराद्भुत रौद्ररसा निरस्त शृङ्गारकरुणनिर्वेदा।

उद्धतपुरुषप्रायापरस्पराघर्षणकृता च

उत्थापकश्च परिवर्तकश्च संल्लापकश्च संघात्यः।

चत्वारोऽस्या भेदाः विज्ञेया नाट्य तत्वज्ञैः।।

नाट्य शास्त्र 20/39–40–41–42

भारती वृत्तिः–

भरत मुनि ने भारती वृत्ति का उद्गम स्त्रोत ऋग्वेद को माना है। धनञ्जय ने भारती को शब्दवृत्ति माना है तथा उसे आमुख का अंग माना है[22] शेष तीनों अर्थात् कैशिकी, सात्वती और आरभटी को वे अर्थवृत्तियां मानते हैं। उनके अनुसार भारती वृत्ति का सभी रसों में प्रयोग होता है (क्योंकि वह शब्द वृत्ति है)

रसार्ण व सुधाकर (1–286) में भी कैशिकी आदि को ही अर्थवृत्ति कहा गया है।

आसां तु मध्ये वृत्तीनां शब्दवृत्तिस्तु भारती।

तिस्रोऽर्थवृत्तयः शेषा तच्चतस्त्रो हि वृत्तयः।।

नाट्यशास्त्र (20/26–27), भाव प्रकाशन (पृष्ठ 228), प्रतापरुद्र यशोभूषण (पृ0 95) तथा साहित्य दर्पण (6–29–30) में भारती का वर्णन है। सार यह है कि– पुरुष विशेष अर्थात्

(1) नटों का वाचिक व्यापार ही भारती वृत्ति है। इसके अन्तर्गत कायिक या मानसिक व्यापार नहीं आता, इसलिए यह शब्द वृत्ति कहलाती है। साथ ही स्त्रीपात्रों (नटी आदि) का वाचिक व्यापार भी भारती वृत्ति के अन्तर्गत नहीं आता।

---

[22] दशरुपक II /61 की धनिक कृत टीका।

रुद्रभट्ट के मतानुसार भारती वृत्ति का लक्षण निम्नवत है–

प्रधानपुरुषप्राया सद्वक्रोक्तिनिरन्तरा

भारतीयं भवेद्वतिर्वीरहास्याद्भुत संश्रया।

उदा० जन्म देहवध वेदानादिकं तुल्यमेतदितौः समं सताम्।

यत्तथापि विपुलाश्चलाः श्रियः साहसैकपरतात्रकारणम्।।

शृ० ति० 3/69–70

प्रायः प्रधान पुरुषो वाली (पुरुष प्रधाना) सुन्दर वक्रोक्ति संयुक्त, और वीर, हास्य तथा अद्भुत रस मे रहने वाली यह वृत्ति भारती वृत्ति कहलाती है।

उदाहरण– सज्जनो का जन्म, देह, मृत्यु और वेदना आदि इनके विपरीत (असज्जनो) के तुल्य ही होता है। लेकिन जहा तक चचल एवं विपुल लक्ष्मी (धन) का प्रश्न है उसमे साहसी होना ही एकमात्र कारण है।

अन्य उदाहरण हैं–

यशोदाकृतरक्षस्य शासितुर्भुवनद्रुशम्।

बाल्ये निभृतगम्भीरो हरे हसिः पुनातु वः।।

शृ० ति० 3/72

दशरुपकार ने इसे निम्नोक्त स्वरुप वाली बतलाया है।

भारती संस्कृत प्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः।

भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथी प्रहसनामुखैः।।

उन्मुखीकरणं तत्र प्रशांसतः प्ररोचना।

वीथी प्रहसनं चापि स्वप्रसंगेऽभिधस्यते।।

वीथ्यंगान्यामुखांगत्वादुच्यन्तेऽत्रैव तत्पुनः

सुत्रधारो नटीं ब्रुते मार्षवाऽथ विदूषकम्।।

स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम्

प्रस्तावना वा

तत्र स्युः कथोद्धातः प्रवृत्तकम्।

प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यंगानि त्रयोदश।।

प्राय सस्कृत भाषा में नट द्वारा किया गया वाचिक व्यापार भारती वृत्ति कहलाता है। जो प्ररोचना, वीथी, प्रसग और आमुख चार अगो से युक्त होता है। उनमे प्रसंशा के द्वारा श्रोताओं को उन्मुख करना प्रतेचना है।

वीथी–वीथी कैशिकी वृत्ति में होती है इसमे सन्धि के अंग तथा अंग भाण के[23] समान होते हैं। इसमा सूच्य रस श्रृंगार होता है– यह एक चा दो पात्रों से युक्त होती है वीथी के अंग आमुख के भी अंग होते हैं।

प्रहसन–उस (भाषा) के समान ही प्रहसन होता है– वह शुद्ध, वैकृत और सकर के भेद से तीन प्रकार का होता है।

आमुख–जहां सूत्रधार (स्थापक) विचित्र उक्ति के द्वारा नहीं, परिपार्श्विक (माष) या विदूषक को प्रस्तुत अर्थ का आक्षेप करने वाला अपना कार्य बतलाता है वह आमुख या प्रस्तावना होती है।

उस आमुख या प्रस्तावना में कथोद्धात, प्रवृत्तक, प्रयोगातिशय और वीथी मे होने वाले 13 अंग होते हैं–

विश्वनाथ ने निम्नोक्त भारती के लक्षण दिए हैं–

भारती संस्कृत प्रायो वाऽव्यापारों नाराश्रयः।।

तस्याः प्ररोचना वीथी तथा प्रहसनामुखे।

अङन्यत्रोन्मुखीकार प्रशंसातः प्ररोचना।।

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।

सूत्रधारेण संहिताः संलापं यत्र कुर्यते।।

चित्रैर्वाक्येः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।

आमुंखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा।।

साहित्यदर्पण–6/29–30–31–32

विश्वनाथ और दशरुपककार धनञ्जय के लक्षणों में नाट्यशास्त्र से बहुत अधिक समानता है जबकि रुद्रभट्ट यहां भी अपनी मौलिक उद्भावना करते हैं। उनके मत में ये वृत्तियां नाट्य से काव्य के क्षेत्र में आई हैं अतः उनके भेद– प्रभेद भी वे नहीं गिनाते।

[23] मुख और निर्वहण दो सन्धियां होती हैं और एक अंग होता है।

अधीत ग्रन्थ सूची

1 शृङ्गारतिलक–डा0 पिशेल कृत सम्पादन व भूमिका हिन्दी अनुवाद– डा0 कपिल देव पाण्डेय

2 शृङ्गारतिलक–काव्यमाला में प्रकाशित

3. सदूक्तिकर्णामृत–श्रीधरदास

4. सूक्तिमुक्तावली–जल्हण

5. राजतरंगिणी–कल्हण

6. काव्यप्रकाश–मम्मट–विश्वेश्वर कृत व्याख्या

7. नाट्यशास्त्र–भरत–मण्डन मिश्र कृत व्याख्या

8. साहित्य दर्पण–आचार्य विश्वनाथ–डा0 निरूपण विद्यालङ्कार कृत व्याख्या

9 कालिदास–डा0 हरिचन्द

10 नम्बर आफ रसाज–डा0 वी0 राघवन

11. संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास–डा0एस0के0 डे हिन्दी अनुवाद– डा0मायाराम शर्मा

12. रसकलिका– रुद्रभट्ट–डा0 कलपक्कम रामास्वामी का शोध प्रबन्ध

13. शृङ्गारतिलक–कालिदास– द्वारा–डा0 कपिलदेव गिरि

14. शान्तरस का काव्यशास्त्रीय अध्ययन–डा0 रामचन्द्र वर्मा–दिल्ली

15. काव्यालंकार–रुद्रट–डा0 सत्यदेव शास्त्री दिल्ली

16. काव्यालंकार–रुद्रट–श्री रामदेव शुक्ल, वाराणसी

17. सस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास– महामहोपाध्याय पी0वी0 काणे

18. अमरूशतक– अमरू (हिन्दी अनुवाद डा0 प्रद्युम्न पाण्डेय) चौखम्भा संस्कृत सीरीज

19. प्रतापरुद्रयशोभूषण–विद्यानाथ

20 रसार्णवसुधाकर– शिंगभूपाल

21 तिलक मञ्जरी–धनपाल

22 काव्यानुशासन– हेमचन्द

23 रसतरगिणी–भानुदत्त

24 दशरुपक– धनञ्जय–धनिककृतावलोक सहित, डा0 श्रीनिवास शास्त्रीकृत व्याख्या

25 शार्ङ्गधर पद्धति– शार्ङ्गधर

26 बंगला हिन्दी विश्वकोष–डा0 नगेन्द्र नाथ बसु

27. हिस्ट्रा ऑफ संस्कृत लिटरेचर– ए0ए0 मैक्डानल

28. पञ्चतत्र– आचार्य श्री सीताराम शास्त्री, पं0 श्री गुरूप्रसाद शास्त्री

29. संस्कृत साहित्य का इतिहास –बलदेव उपाध्याय

30. संस्कृत साहित्य का इतिहास – कपिलदेव द्विवेदी

31. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर– प्रो0 ए0बी0 कीथ

32. दक्षिण भारत का इतिहास– डा0 नीलकण्ठ शास्त्री

33. काव्यालङ्कारसार– उद्‌भट

34. काव्यालङ्कारसार– भामह

35. अभिनवरस सिद्धान्त – डा0 दशरथ द्विवेदी (गोरखपुर युनिवर्सिटी)

36. कवि और काव्य शास्त्र–डा0 सुरेश चन्द्र पाण्डेय

37 मध्यकालीन भारत–डा0 हरिश्चन्द वर्मा

38. दक्षिण भारत का इतिहास–डा0 नीलकंठ शास्त्री

39 अद्‌भुत भारत – डा0 ए0एल0 बाशय

40. वात्स्यायन कामसूत्र–चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान